प्रकाशक

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर, बीकानेर ३३४४०३

प्रकाशन-सौजन्य

श्री मगतमलजी बरडिया, सरदारशहर

मूल्य पचास रुपये मात्र

मुद्रक

कल्याणी प्रिन्टर्स

[illegible] रोड, बीकानेर

[illegible]

प्रकाशकीय

साधुमार्गी जेन–परम्परा मे महान् क्रियोद्धारक आचार्यश्री हुक्मीचदजी म सा की पाट–परम्परा मे षष्ठ युगप्रधान आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा विश्व–विभूतियो मे एक उच्चकोटि की विभूति थे अपने युग के क्रातदर्शी सत्यनिष्ठ तपोपूत सत थे। उनका स्वतन्त्र चिन्तन, वैराग्य से ओत–प्रोत साधुत्व प्रतिभा साधना वक्तृत्वशक्ति एव भक्तियोग से समन्वित व्यक्तित्व स्व–पर–कल्याणकर था।

आचार्यश्री का चिन्तन सार्वजनिक सार्वभौम और मानवमात्र के लिए उपादेय था। उन्होने जो कुछ कहा वह तत्काल के लिए नही अपितु सर्वकाल के लिए प्रेरणापुज बन गया। उन्होने व्यक्ति, समाज ग्राम नगर एव राष्ट्र के सुव्यवस्थित विकास के लिए अनेक ऐसे तत्त्वो को उजागर किया जो प्रत्येक मानव के लिए आकाशदीप की भॉति दिशाबोधक बन गये।

आचार्यश्री के अन्तरग मे मानवता का सागर लहरा रहा था। उन्होने मानवोचित जीवनयापन का सम्यक् धरातल प्रस्तुत कर कर्तव्यबुद्धि को जाग्रत करने का सम्यक प्रयास अपन प्रेरणादायी उद्बाधना के माध्यम से किया।

आगम के अनमोल रहस्यो को सरल भाषा मे आबद्ध कर जन–जन तक जिनेश्वर देवो की वाणी को पहुचाने का भगीरथ प्रयत्न किया, साथ ही, प्रेरणादायी दिव्य महापुरुषो एव महासतियों के जीवन–वृत्तान्तो को सुबोध भाषा मे प्रस्तुत किया। इस प्रकार व्यक्ति से लेकर विश्व तक को अपने अमूल्य साहित्य के माध्यम से सजाने–सवारने का काम पूज्यश्रीजी ने किया हे। अस्तु! आज भी समग्र मानवजाति उनके उद्बोधन से लाभान्वित हो रही हे। इसी क्रम मे गृहस्थ धर्म भाग–2 किरणावली का यह अक पाठको के लिए प्रस्तुत हे। सुज्ञ पाठक इससे सम्यक् लाभ प्राप्त करेंगे।

युगद्रष्टा युगप्रवर्तक ज्योतिर्धर आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा का महाप्रयाण भीनासर मे हुआ। आपकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने ओर आपके कालजयी प्रवचन–साहित्य को युग–युग मे जन–जन को सुलभ कराने हेतु समाजभूषण कर्मनिष्ठ आदर्श समाजसेवी स्व सेठ चम्पालालजी बाठिया का चिरस्मरणीय श्लाघनीय योगदान रहा। आपके अथक प्रयासो ओर समाज के उदार सहयोग से

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की स्थापना हुई। सस्था जवाहर–साहित्य को लागत मूल्य पर जन–जन को सुलम करा रही है ओर पण्डित शोमाचन्द्रजी भारिल्ल के सम्पादकत्व में सेठजी ने 33 जवाहर किरणावलियों का प्रकाशन कर एक उल्लेखनीय कार्य किया हे। बाद में सस्था की स्वर्णजयन्ती के पावन अवसर पर श्री बालचन्दजी सेठिया व श्री खेमचन्दजी छल्लाणी के अथक प्रयासो से किरणावलियों की सख्या बढाकर 53 कर दी गई। आज यह सेट प्राय बिक जाने पर श्री जवाहर विद्यापीठ मे यह निर्णय किया गया कि किरणावलियो को नया रूप दिया जावे। इसके लिए सस्था के सहमत्री श्री तोलाराम बोथरा ने परिश्रम करके विषय–अनुसार कई किरणावलियो को एक साथ समाहित किया ओर पुन सभी किरणावलियो को 32 किरणो मे प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

ज्योतिर्धर श्री जवाहराचार्यजी म सा के साहित्य के प्रचार–प्रसार मे जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की पहल को सार्थक और भारत तथा विश्वव्यापी बनाने मे श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर की महती भूमिका रही। सघ ने अपने राष्ट्रव्यापी प्रभावी सगठन और कार्यकर्ताओ के बल पर जवाहर किरणावलियो के प्रचार–प्रसार और विक्रय–प्रबन्धन मे अप्रतिम योगदान प्रदान किया हे। आज सघ के प्रयासो से यह जीवन–निर्माणकारी साहित्य जैन–जैनेतर ही नहीं अपितु विश्व–धरोहर बन चुका हे। सघ के इस योगदान के प्रति हम आभारी हैं।

धर्मनिष्ठ, सुश्राविका श्रीमती राजकुवर बाई मालू धर्मपत्नी स्व डालचन्दजी मालू द्वारा आरम्भ मे समस्त जवाहर–साहित्य–प्रकाशन के लिए 60 000 रु एक साथ प्रदान किये गये थे जिससे पूर्व मे लगभग सभी किरणावलियॉ उनके सोजन्य से प्रकाशित की गई थीं। सत्साहित्य–प्रकाशन के लिए बहिनश्री की अनन्य निष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत किरणावली का पिछला सस्करण श्रीमान् भवरलालजी मूथा जयपुर के सोजन्य से प्रकाशित किया गया ओर प्रस्तुत किरण 22 (गृहस्थ धर्म भाग–2) के अर्थ–सहयोगी श्री मगतमलजी बरडिया सरदारशहर हैं। सस्था सभी अर्थ–सहयोगिया के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हे।

निवेदक

चम्पालाल डागा
अध्यक्ष

सुमतिलाल बांठिया
मत्री

आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

जीवन तथ्य

जन्म स्थान	थादला, मध्यप्रदेश
जन्म तिथि	वि स 1932, कार्तिक शुक्ला चतुर्थी
पिता	श्री जीवराजजी कवाड
माता	श्रीमती नाथीबाई
दीक्षा स्थान	लिमडी (म प्र)
दीक्षा तिथि	वि स 1948, माघ शुक्ला द्वितीया
युवाचार्य पद स्थान	रतलाम (म प्र)
युवाचार्य पद तिथि	वि स 1976, चैत्र कृष्णा नवमी
आचार्य पद स्थान	जैतारण (राजस्थान)
आचार्य पद तिथि	वि स 1976, आषाढ शुक्ला तृतीया
स्वर्गवास स्थान	भीनासर (राज)
स्वर्गवास तिथि	वि स 2000, आषाढ शुक्ला अष्टमी

आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा.

आचार्यश्री जवाहर–ज्योतिकण

- विपत्तियो के तमिस्र गुफाओ के पार जिसने सयम–साधना का राजमार्ग स्वीकार किया था।
- ज्ञानार्जन की अतृप्त लालसा ने जिनके भीतर ज्ञान का अभिनव आलोक निरतर अभिवर्द्धित किया।
- सयमीय साधना के साथ वैचारिक क्राति का शखनाद कर जिसने भू–मण्डल को चमत्कृत कर दिया।
- उत्सूत्र सिद्धातो का उन्मूलन करने, आगम–सम्मत सिद्धातो की प्रतिष्ठापना करने के लिए जिसने शास्त्रार्थो मे विजयश्री प्राप्त की।
- परतत्र भारत को स्वतत्र बनाने के लिए जिसने गाव–गाव, नगर–नगर पाद–विहार कर अपने तेजस्वी प्रवचनो द्वारा जन–जन के मन को जागृत किया।
- शुद्ध खादी के परिवेश मे खादी–अभियान चलाकर जिसने जन–मानस मे खादी–धारण करने की भावना उत्पन्न कर दी।
- अल्पारभ–महारभ जैसी अनेको पेचीदी समस्याओ का जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम–सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया।
- स्थानकवासी समाज के लिये जिसने अजमेर–सम्मेलन मे गहरे चितन–मनन के साथ प्रभावशाली योजना प्रस्तुत की।
- महात्मागाधी, विनोबाभावे लोकमान्य तिलक, सरदार वल्लभ भाई पटेल, प श्री जवाहर लाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओ ने जिनके सचोट प्रवचनो का समय–समय पर लाभ उठाया।
- जैन व जैनेतर समाज जिसे श्रद्धा से अपना पूजनीय स्वीकार करता था।
- सत्य सिद्धातो की सुरक्षा के लिये जो निडरता एव निर्भीकता के साथ भू–मडल पर विचरण करते थे।

"हुक्म संघ के आचार्य"

1 आचार्य श्री हुक्मीचदजी म सा – दीक्षा वि स 1870, स्वर्गवास वि स 1917

ज्ञान-सम्मत क्रियोद्धारक, साधुमार्गी परम्परा के आसन्न उपकारी।

2 आचार्य श्री शिवलालजी म सा – दीक्षा वि स 1891, स्वर्गवास वि स 1933

प्रतिमा–सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान, परम तपस्वी, महान शिवपथानुयायी।

3 आचार्य श्री उदय सागरजी म सा – दीक्षा 1918, स्वर्गवास वि स 1954

विलक्षण प्रतिभा के धनी, वादीमान–मर्दक, विरक्तो के आदर्श विलक्षण।

4 आचार्य श्री चौथमलजी म सा – दीक्षा 1909, स्वर्गवास वि स 1957

महान क्रियावान, सागर सम गमीर, सयम के सशक्त पालक, शात, दात, निरहकारी, निर्ग्रन्थ–शिरोमणि।

5 आचार्य श्री श्रीलालजी म सा – दीक्षा 1944, स्वर्गवास वि स 1977

सुरा–सुरेन्द्र–दुर्जय कामविजेता, अद्‌भुत स्मृति के धारक, जीव–दया के प्राण।

6 आचार्य श्री जवाहरलालजी म सा – दीक्षा 1947, स्वर्गवास वि स 2000

ज्योतिर्धर महान क्रातिकारी, क्रातदृष्टा, युगपुरुष।

7 आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा – दीक्षा 1962, स्वर्गवास वि स 2019

शात क्राति के जन्मदाता, सरलता की सजीव मूर्ति।

8 आचार्य श्री नानालालजी म सा – दीक्षा 1996, स्वर्गवास वि स 2056

समता–विभूति विद्वद्शिरोमणि, जिनशासन–प्रद्योतक धर्मपाल–प्रतिबोधक समीक्षण–ध्यानयोगी।

9 आचार्य श्री रामलालजी म सा – दीक्षा 2031, आचार्य वि स 2056 से

आगमज्ञ तरुण तपस्वी तपोमूर्ति उग्रविहारी सिरीवाल–प्रतिबोधक व्यसनमुक्ति क प्रबल प्रेरक बालब्रह्मचारी प्रशातमना।

अर्थ–सहयोगी–परिचय

सघ–समर्पित, शासन–गौरव, समाजसेवी

सेठ श्री मगतमलजी बरडिया (सरदारशहर)

सुश्रावक श्री रतनलालजी सा बरडिया पुत्र श्री मगतलालजी सा बरडिया सरदारशहर निवासी ने अपने सद्गुण एव आत्मबल से सरदारशहर मे एक प्रतिष्ठित, सुधार्मिक, समाजसेवी के रूप मे आप विख्यात थे। आपका जन्म १५ मार्च १६३३ को मॉ झुमलादेवी की रत्नकुक्षी से हुआ। श्री रतनलालजी बरडिया अपने पिता के पद्चिन्हो पर चलते हुए सहज, सौम्य, मिलनसार, समतादर्शी, उदारमना और हुक्मसघ के प्रति अटूट सर्वभावेन समर्पित थे। नित्य धर्म ध्यान एव प्रवचन सुनना आपका स्वभाव था। अहमदाबाद चातुर्मास पर स्व आचार्य श्री नानेश की भरपूर सेवा का लाभ लिया तथा जीवनभर उनके प्रति सदैव अटूट श्रद्धा सारथी बने रहे। आपके पिता समाजसेवी श्री मगतमलजी बरडिया सरदारशहर सघ अध्यक्ष है। आपका कर्म क्षेत्र अहमदाबाद था। अहमदाबाद मे आपने अपनी प्रामाणिकता एव व्यवसायिक कौशल से अपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की। आपने सामाजिक धार्मिक कार्यो मे मुक्तहस्त से दान दिया अर्थात् आपके द्वार पर आया कोई व्यक्ति कभी भी खाली हाथ नही लौटा। सम्पूर्ण परिवार को भी उदारता के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा दी। आप अनन्य मातृ–पितृ भक्त थे। कपडे के क्षेत्र मे उत्कृष्ट व्यवसायी होते हुए भी पूरे जीवन मे सदैव अपने पास दो जोडे धोती चोला रखने वाले सरलमना थे। आपका अपने भाईयो के प्रति असीम लगाव था। आप सदैव ही सभी के मार्गदर्शी बने रहे। दि २१ सितम्बर १६८६ को मात्र ५४ वर्ष की वय मे आपका देवलोक गमन हो गया। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती मनोहरदेवीजी एक आदर्श सुश्राविका है। नित्य धर्म, ध्यान, दया मे आपकी गहन अभिरुचि है। आप आदर्श माता एव भाभी के रूप मे समाज मे एक प्रतिमान है। सोभाग्यशाली बरडिया दम्पत्ति के एक पुत्र व दो पुत्रिया है। आपके सुपुत्र सुश्रावक श्री मदनचन्दजी बरडिया सेवाभावी मृदुभाषी एव कुशल व्यवसायी है। आपने अपने व्यवसाय को चरम सीमा तक पहुँचाया जिससे आज आपका परिवार अहमदाबाद के प्रसिद्ध उधोगपति घरानो मे सुप्रतिष्ठित हे। आपकी दोनो पुत्रिया श्रीमती सुशीलाजी नाहटा एव श्रीमती बबीताजी वैद आदर्श सुश्राविका है। दया और धर्म और सत–सतीवृन्द की सेवा मे हमेशा ही तल्लीन रहती है।

आपके चार भाई श्री पन्नालालजी, बच्छराजजी, गुलाबचन्दजी एव राजकरणजी बरडिया। आपके पुत्र एव भाईयो ने धर्माचरण, व्यावसायिक कौशल और उदारता के सस्कारो की धरोहर प्राप्त की हे जिसे सभी ने विकसित और प्रवर्धमान कर समाज को सुवासित और सुप्रकाशित किया। आज देश के व्यावसायिक क्षेत्र मे बरडिया परिवार का सराहनीय योगदान सर्व समादृत है।

आपके अनुज श्री राजकरणजी बरडिया सुशिक्षित, अथक परिश्रमी एव दानवीर व्यक्तित्व के धनी है। आपने अपने युवाकाल मे प्रवेश करते ही अथक लगन परिश्रम श्रमनिष्ठा एव आत्मबल तथा अपने भाई साहब के आशीर्वाद से अहमदाबाद मे अपना व्यवसाय प्रारम्भ किया और आज आप एक प्रसिद्ध उधोगपति के रूप मे पहचाने जाते हे। आपने अपने पिता एव ज्येष्ठ भ्राता के पद्चिन्हो पर चलते हुए मानव हितो की रक्षा की है। सप्रति वर्तमान मे आप श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जेन सघ के राष्ट्रीय कोषाध्यक्ष है। आपकी विशेष कार्यकुशलता के कारण आपको लगातार दो बार राष्ट्रीय उपाध्यक्ष पद पर सुशोभित किया गया। आप वर्तमान मे अहमदाबाद श्रीसघ के भी अध्यक्ष पद को सुशोभित कर रहे है। आप इनके अलावा अन्य भी कई राजनेतिक एव सामाजिक सस्थाओ के पदाधिकारी एव ट्रस्टी हे। आपने श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ की विभिन्न प्रवृत्तियो मे अथक आर्थिक सहयोग प्रदान किया हे। आपमे आचार्य श्री नानेश एव वर्तमान आचार्य श्री रामेश के प्रति अनन्य भक्ति एव श्रद्धा कूट–कूटकर भरी हुई हे। यह सभी गुण आपकी पत्नी धर्म परायणा श्रीमती जवरदेवी एव पुत्र चि दीपक मे भी कूट–कूट कर भरे हुए हे।

युगदृष्टा युगपुरुष आचार्यश्री जवाहरलालजी म सा के प्रवचनों की श्रृखला जवाहर किरणावली के उक्त भाग के सहयोगी के रूप मे आपने जा सहयाग प्रदान किया हे यह आपकी उदार दृष्टि एव सघनिष्ठा का अनुपम उदाहरण है।

बरडिया परिवार का यह प्रशस्त सुयश– मानव सेवा की प्रेरणा दकर सदाचारी एव समाज की प्रेरक शक्ति बना हुआ हे। बरडिया इसी प्रकार सेवा कार्यों हेतु समर्पित रहकर समाज का उत्थान एव विकास कर इन्हीं शुभकामनाओ के साथ।

अनुक्रम

सत्याणुव्रत

सत्य क्या है ?

त सच्च भयव

— प्रश्नव्याकरण सूत्र

'सत्य भगवान् है' यह कहकर जिस सत्य की प्रशसा की गई है, उस सत्य की पूर्ण एव सागोपाग व्याख्या करना कठिन है। और हमारे तथा आपके लिए तो असभव सा ही है। सत्य की पूर्ण व्याख्या करने के अधिकारी वे ही पुरुष हैं, जिन्होने सत्य को पूर्ण रूप से अपना लिया हो। पर सत्य की पूर्ण रूप से व्याख्या शब्दो द्वारा हो नही सकती। जिन महापुरुषो ने पूर्ण रूप से सत्य को प्राप्त कर लिया है, उनमे और ईश्वर मे कोई भेद नही रहता। हम छद्मस्थो मे तो अभी इतनी भी शक्ति नही कि उन महापुरुषो ने अपने पावन उद्गार रूप शास्त्रो मे जो कुछ कहा है, उसे पूर्णतया समझ सके।

सत्य की पूर्ण व्याख्या करना यद्यपि हमारे लिए कठिन है, तथापि प्रत्येक मनुष्य प्रयत्न करने पर, सर्वथा नही तो किसी न किसी अश तक, अपने ध्येय तक पहुचता ही है। इसी नीति के अनुसार हम अपनी शक्ति भर यह बतलाने का प्रयत्न करेगे कि सत्य क्या है ?

यो तो साधारणतया मनुष्य मात्र को, सत्य का वास्तविक स्वरूप जानने की इच्छा रहती है क्योकि सत्य आत्मा का निज स्वरूप है, परन्तु सत्य को अच्छी तरह वे ही लोग जान सकते है, जिन्हे सत्य हृदय से प्यारा है, जो सत्य के उपासक हैं या उसकी उपासना करना चाहते हैं और सत्य के सामने त्रिलोकी की सम्पदा को ही नही, वरन् अपने प्राणो को भी तुच्छ समझते हैं।

जो किसी एक सम्प्रदाय पथ या मजहब के पीछे उन्मत्त हैं, जो स्वार्थ को सर्वोपरि समझकर सत्य–असत्य की परवाह नही करता, जो सत्य–असत्य का विवेक न करके केवल हा मे हा मिलाना ही जानता है, ऐसा मनुष्य सत्य को नही पहचान सकता।

जिस विचार, बात और कार्य का त्रिकाल मे भी पलटा न हो, जिसको अपनी आत्मा निष्पक्ष भाव से अपनावे, जिसके पूर्णरूप से हृदय मे स्थित हो जाने पर भय, ग्लानि, अहकार, मोह, दम्भ, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि कुत्सित भाव नि शेष हो जाये, जो भूत मे था, वर्तमान मे है और भविष्य मे होगा तथा जिसके होने पर आत्मा को वास्तविक शाति प्राप्त हो, उसी का नाम 'सत्य' है। वेदव्यास जी ने सत्य की व्याख्या निम्न प्रकार से की है –

सत्य यथार्थे वाड्गमनसे, यथादृष्ट यथानुमित यथाश्रुत वाड्मनश्चेति परत्र बोधसक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्राता वा प्रतिपत्तिबाध्या वा भवेदिति।

–योगदर्शन भाष्य सा पा 3

मन सहित वाणी के यथार्थ होने का नाम 'सत्य' है। यानि जैसा देखा, समझा और सुना है, दूसरे को कहते समय मन और वाणी का ठीक वैसा ही प्रयोग हो, उसे 'सत्य' कहते हैं। देख, सुन और समझकर सम्यक् प्रकार से जो बात अपनी समझ मे आई है, ठीक वही सुनने वाले की समझ मे आये, उसका नाम सत्य' है।

जिसके द्वारा अवास्तविक बात विचार और कार्य का विरोध होता है तथा जिसके प्रकट हो जाने पर अवास्तविक विचार बात और कार्य नही ठहर सकते हैं, उसे 'सत्य' कहते हैं अर्थात वास्तविक विचार बात और कार्य ही सत्य है। महाभारत मे कहा है –

अविकारितम सत्यं सर्ववर्णेषु भारत।

सभी वर्णो मे सदा विकार–रहित रहने वाले का नाम ही 'सत्य' है।

सत्य की मूर्ति किसी पाषाण की बनी हुई नही होती है न इसका कोई स्थान ही नियत है। यह देह मे स्थित जीव के समान सब जगह मौजूद है। कोई वस्तु या स्थान ऐसा नही है जहा सत्य न हो। जिस वस्तु मे सत्य नही है वह वस्तु किसी काम की नही रहती और उसका नाम भी बदल जाता है। जैसे सूर्य मे सत्य वस्तु प्रकाश है। यदि सूर्य मे से प्रकाश निकल जाय तो उसे सूर्य कोई न कहेगा। दूध मे सत्य वस्तु घृत है। यदि घृत निकल जाय तो उसे दूध कोई न कहेगा। तात्पर्य यह है कि सत्य उस स्वाभाविक और [illegible] वस्तु का नाम है जिसके होने पर किसी वस्तु, विचार कार्य आदि [illegible] तथा गुण मे परिवर्तन न हो सके और जिसके न रहने पर [illegible] [illegible] कुछ [illegible] बदल जाए।

[illegible]

स्वभावत मनुष्य के हृदय मे एक से एक उत्तम गुण विद्यमान हैं। उत्तम गुण सीखने के लिए मनुष्य को कही जाना नही पडता, वे तो सर्वथा स्वाभाविक होते है। यदि मनुष्य कुसग मे पडकर बुरी बाते अपने हृदय मे न भर ले और जन्म से ही सत्य के वातावरण मे पले तो सभवत वह असत्याचरण का विचार भी न करे। यदि किसी शिशु को सत्यासत्य विवेक का उपदेश न भी दिया जाय किन्तु असत्य आचरण उसके सामने न किया जाय तो निश्चित ही वह सत्य का अनुगामी बनेगा। साराश यह है कि सत्य एक प्राकृतिक गुण है और असत्य अस्वाभाविक है, आरोपित है।

सत्य एक व्यापक और सार्वभौम सिद्धान्त है। ससार मे अनेक मत–मतान्तर प्रचलित हैं और उनके सिद्धान्त भी पृथक–पृथक हैं। बहुत से मतो के ऊपरी सिद्धान्त तो इतनी भिन्नता रखते हैं कि एक मतानुयायी दूसरे मतानुयायी से मिल नही पाता। बल्कि इन्ही ऊपरी सिद्धान्तो को लेकर प्राय आपस मे महायुद्ध मचा देते हैं। ऐसा होते हुए भी, सब मतावलम्बी यदि गम्भीरतापूर्वक निष्पक्ष दृष्टि से विचार करे तो मालूम होगा कि धर्म की नीव सत्य के ऊपर ही टिकी हुई है और वह सत्य सब के लिए एक है। उस सत्य को समझ लेने पर, वे ही लोग जो आपस मे धर्म के नाम पर द्वेष करते है, द्वेष–रहित होकर एक दूसरे से गले मिल कर भाई की तरह प्रेमपूर्वक रह सकते है।

सत्य का पूजन प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। इसके लिए जाति विशेष या धर्म विशेष का कोई बन्धन नही है। बल्कि जो कोई सत्याचरण करता है वह पूरा धर्मात्मा बन जाता है। सत्य के पूजन की सामग्री के लिए वैसे तो कोडिया भी खर्च नही होती, पर कभी–कभी इतनी कीमत चुकानी पडती है कि जिसकी समानता ससार की सारी उत्तम से उत्तम वस्तुए भी नही कर सकती। यदि कोई पूछे कि सत्य का पूजन किस तरह करना चाहिए तो उत्तर मिलेगा–'सत्य चर' अर्थात् सत्य का आचरण कर। मन वचन और काया से सत्य का आचरण करना ही सत्य की पूजा करना है।

सत्य का महत्त्व

सच्चमि धिइ कुव्वहा। एत्थोवरए
मेहावी सव्वं पाव कम्म झोसइ।।

— आ सू प्र श्रु

यथावस्थित वस्तुस्वरूप को प्रकट करने वाला सत्य ही है। कुमार्ग का परित्याग करके जो मनुष्य त्याग को ग्रहण करता है, और उसके पालन मे धैर्य रखता है। वही तत्त्वदर्शी सब पाप–कर्मो का नाश करता हे।

शास्त्र के उक्त प्रमाण से प्रकट है कि सत्य सर्व पापो का नाश करने वाला हे। बिना सत्य को अपनाये वे कर्म जो अनन्त काल से जीव को घेर रहे हें, दूर नहीं होते हैं। तात्पर्य यह है कि, पापो का नाश करके स्वर्गादि सुखो को प्राप्त कराने वाला सत्य ही हे।

ससार मे प्रत्येक मनुष्य धर्म का इच्छुक होता है ओर अपनी आत्मा का कल्याण चाहता है। आत्मा का कल्याण धर्म से ही होता हे। जिसरा आत्मा का कल्याण होता हे, उस धर्म मे प्रधान वस्तु 'सत्य ही हे। यदि धर्म से सत्य को पृथक् कर दिया जाय तो धर्म नाममात्र के लिए शेष रह जायगा अर्थात् अपूर्ण होगा। लेकिन आप धर्मात्मा तभी बन सकते हें जब वास्तविक सत्य का पालन करे। नामधारी सत्यवादी धर्मात्मा नही बन सकत। वेस तो सत्य को सब मानते हें, लेकिन इसे पूरी तरह कार्य रूप म नही लात।

सत्य का जैन–शास्त्रो ने तो धर्म के प्रधान अडगो म स एक अग माना ही ह परन्तु अन्य धर्म मे भी सत्य को यही स्थान प्राप्त हे। महाभारत (शाति पर्व) म कहा हे –

नास्ति सत्यात्परो धर्म ।

अर्थात–सत्य से वढकर काई धर्म नहीं हे।

तात्पर्य यह ह कि सत्य को सभी न धर्म के प्रधान अगा म माना है। सत्य की विशष प्रशसा क लिए महाभारत म कहा हे –

सत्यस्य वचन साधुर्न सत्याद्विद्यते परम्।

सत्य वचन ही सब से श्रेष्ठ है। सत्य से उत्तम और कुछ भी नही है। इसी तरह धर्म की उत्पत्ति का स्थान सत्य को ही माना है। यथा –

सत्येनोत्पद्यते धर्मो दयादानेन वर्द्धते।।

सत्य से धर्म की उत्पत्ति होती है और दया–दान से उसकी वृद्धि होती है। पश्नव्याकरण सूत्र मे सत्य की प्रशसा मे कहा है कि –

'मन्त्र, औषधि और विद्याओ का साधन सत्य से होता है। चारण (देव विशेष) तथा श्रमणो की आकाश–गमनादि विद्याए सत्य के प्रभाव से ही सिद्ध होती हैं। सत्य मनुष्यो का वन्दनीय, देवताओ का अर्चनीय, असुरगणो का पूजनीय और अनेक व्रतधारियो द्वारा स्वीकार किया हुआ ससार मे सारभूत (निचोड) है। सत्य क्षोभ करने के योग्य न होने से महासमुद्र से भी बढकर गम्भीर विचलित न होने के कारण मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर, सन्ताप को दूर करने के कारण चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य, वस्तु–स्वरूप का यथार्थ पकाशक होने से सूर्यमण्डल से भी अधिक तेजस्वी, अति–निर्दोष होने के कारण आकाशमण्डल से भी अधिक स्वच्छ और सत्य–प्रेमियो के हृदय को वश मे रखने के कारण गन्धमादन–पर्वत से भी अधिक सुगन्धित हे।

सत्य के विषय मे भर्तृहरि ने कहा है –

'सत्यं चेत्तपसा च कि ?'

यदि सत्य विद्यमान है तो तप करे तो क्या और न करे तो क्या ? अर्थात् तप से भी सत्य का प्रभाव अधिक है।

चाणक्य ने अपनी नीति मे कहा है –

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात, विषयान्विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयाशौच, सत्य पीयूषवत्पिब।।

हे भाई यदि आप मुक्ति के इच्छुक हैं तो विषयो को विष के समान छोडकर सहनशीलता, सरलता, दया, हृदय की पवित्रता और सत्य को अमृत की भाति पीओ।

सत्य की महिमा बतलाते हुए कहा गया है –

सत्येनाग्निर्भवेच्छीतो, गाध धत्तेऽम्बु सत्यत ।।
नासिश्छिनत्ति सत्येन, सत्याद्रज्जूयते फणी।।

अर्थात्–सत्य के बल से जला देने के स्वभाव वाली अग्नि शीतल हो जाती हे डुबा देने वाला अथाह जल थाह वाला हो जाता है, काटने वाली तलवार भी नही काट सकती और भयकर विषधर सर्प रस्सी के समान हो जाता हे।

आवश्यक सूत्र मे कहा है कि – "सत्यवादी सत्य के प्रभाव से समुद्र या जल की बाढ मे नहीं डूब सकता किन्तु उसके लिए वह जल थाह हो जाता है। दिशा को भूल जाने पर यथा–स्थान ले जाने वाले सैन्यादि से युक्त हो जाता है। अग्नि–उपद्रव उसकी कोई हानि नही कर सकता। तपाया हुआ तेल, लोहा, शीशा आदि वस्तुए हाथ मे लेने पर भी उसका हाथ नहीं जला सकती। सत्यधारी पर्वत से गिराये जाने पर भी नही मर सकता एव खड्गधारी शत्रुओ मे चारो ओर से घिर जाने पर भी उनके बीच से अक्षत शरीर बच आता है। और वध, बन्धन अभियोग, वेर आदि घोर उपद्रवो से बाल–बाल सुरक्षित रहता है। सत्य के पालन करने वालो मे ऐसी दिव्य शक्ति होती है कि स्वय देवता भी उनके समीप चले आते हैं।

जो मनुष्य सत्य का आचरण करने लग जाता है, वह लोगो मे देव के समान पूजनीय हो जाता है। उसका आत्म–बल बढ जाता है और वह उस आत्म–बल द्वारा महान से महान कार्य भी कर सकता है। आत्म–बल किसी भी बल से कम नही है। इस बल के सामने भौतिक बल तुच्छ, हेय और नगण्य है।

जिन तोपो और मशीनगनो के नाम मात्र से लोग काप उठते हैं, जिनकी गडगडाहट की भयकर ध्वनि से लोगो के रोम–रोम खडे हो जाते हैं और गर्भवती स्त्रियो के गर्भ पतन हो जाते है, वे तोपे तथा मशीनगने, सत्य द्वारा बल प्राप्त करने वाले आत्मबली का एक रोम भी नही हिला सकती। उनके सामने वे शाक–भाजी भरने के टोकरो के समान निकम्मी हो जाती हैं।

इस सत्य द्वारा प्राप्त आत्म–बल को आजकल 'सत्याग्रह' भी कहते हैं। सत्याग्रह का वास्तविक अर्थ सत्यबल का प्रयोग या सत्य पर अटल रहना है।

सत्य के बल की तुलना कोई बल नही कर सकता। इस बल के सामने मनुष्य–शक्ति तो क्या किन्तु देव–शक्ति भी हार मान जाती है। कामदेव श्रावक पर देवता ने अपनी सारी शक्ति का प्रयोग किया लेकिन कामदेव ने अपनी रक्षा के लिए किसी अन्य शक्ति का आश्रय नही लिया। उसने केवल सत्योपार्जित आत्म–बल से ही उस देवता की सारी शक्ति को परास्त कर दिया था।

प्रहलाद के जीवन का इतिहास भी सत्याग्रह का महत्वपूर्ण दृष्टांत है। प्रहलाद ने अपने पिता की अनुचित आज्ञा नही मानी। इसलिए उस पर कितने ही अत्याचार किये गये लेकिन अन्त मे सत्याग्रह के सामने अत्याचारी पिता को ही परास्त होना पड़ा।

बहुत से लोग अत्याचार को मिटाने के लिए अत्याचार से ही काम लेते हैं। अत्याचार से अत्याचार चाहे एक बार मिटा हुआ–सा दिखाई भी दे परन्तु वास्तव मे वह निर्मूल रूप मे ज्वालामुखी की तरह फट कर बाहर निकल आता है। और उसकी लपटे प्रतिपक्षियो का नाश करने के लिए पहले से भी ज्यादा उग्रता से लपलपाने लगती हैं। अतएव अत्याचार का अत्याचार से नाश करने का विचार निरर्थक है। अत्याचार से न तो अत्याचार भलीभाति मिटता है, न ससार मे शाति ही फैलती है। इसका वास्तविक उपाय तो सत्याग्रह ही है, क्योकि सत्याग्रह मे दूसरे के नाश का हेतु नही रहता, किन्तु उसे सुधारने का हेतु रहता है।

अत्याचार का प्रभाव केवल शरीर पर ही पडा करता है, मन पर नही। और जबतक मन पर प्रभाव न पडे, तब तक जिस कार्य के लिए अत्याचार किया जाता है, उस कार्य मे पूर्णतया और स्थायी सफलता प्राप्त नही होती। लेकिन सत्याग्रह का प्रभाव मन पर पडता है और मन सारे शरीर का राजा है। इसलिए सत्याग्रह द्वारा प्राप्त सफलता स्थायी और शातिप्रद होती है।

जिस समय भारत मे चारो ओर हिसा का ही साम्राज्य था, लोग यज्ञ के नाम पर अनेक मूक पशुओ का निर्दयता पूर्वक वध कर डालते थे, वे पशुओ को अपना खाद्य समझते थे, उस समय भगवान् महावीर ने सत्याग्रह (सत्यसन्देश) द्वारा ही उस हिसा को मिटाकर शाति स्थापित की थी। भगवान् महावीर राजपूत थे। यदि वे चाहते तो राज्य सत्ता से भी हिसा को मिटा सकते थे। लेकिन इस तरह से मिटाई हुई हिसा निर्मूल नही होती। भगवान् महावीर के न रहते ही या राज्य–शक्ति मे शिथिलता आते ही वह हिसा पुन प्रचलित हो जाती।

सत्याग्रह एक महाशस्त्र है। उसका प्रयोग अत्याचारो पर रामबाण की तरह अचूक होता है। हा, शर्त यही है कि प्रयोग करने के पहले प्रयोग करने वाला, अपने दुर्गुणो को दूर करके, अपने ही ऊपर सत्याग्रह का पूरा प्रयोग कर ले। इसमे विजयशाली होने पर, उसका प्रभाव अन्य प्राणियो पर ही नही, किन्तु जड पदार्थो पर भी पडता है। सत्यनिष्ठ पुरुष के प्रभाव से, अग्नि शीतल हो जाती है, विष अमृत बन जाता है और अस्त्र–शस्त्र फूल से कोमल हो जाते हैं। जब इतना हो जाता है तो क्रूर–प्राणियो की क्रूरता दूर होने मे सन्देह ही क्या है ? इसके विपरीत अर्थात् अपने दुर्गुणो को दूर किये बिना, केवल दूसरो को दबाने के लिए जो सत्याग्रह किया जाता हे वह सत्याग्रह दुराग्रह हो जाता हे और स्वय करने वाले का ही नाश कर देता है। ऐसे भी अनेक उदाहरण विद्यमान है।

भगवान् महावीर ने सत्याग्रह का प्रयोग पहले अपने ही ऊपर कर लिया था। इससे चण्डकौशिक जैसे विषधर सर्प के स्थान पर लोगो के मना करते हुए भी निर्भयतापूर्वक चले गये। उस चण्डकौशिक की दृष्टि मात्र से ही जीवो को मृत्यु का आलिगन करना पडता था – उसने भगवान् महावीर को अपने भयकर विषैले दातो से काटा भी, लेकिन सत्य के प्रभाव से वह विष भगवान् की किचित् मात्र भी हानि न कर सका। उल्टे चण्डकौशिक की तामसी प्रकृति भगवान् महावीर की सात्विकी–प्रकृति से टकरा कर शात हो गई और भगवान् से बोध पाकर वह कल्याण–मार्ग का पथिक बना।

जिसने सत्य के द्वारा अपनी आत्मा को बलवान् बना लिया है, वह मृत्यु से भी भय नही खाता। प्राणो के असीम सकट मे पडने पर भी, ऐसा आत्मबली धैर्य से जरा भी विचलित नही होता और प्रसन्नतापूर्वक अपने प्राणो का त्याग करता है।

गजसुकमाल मुनि श्मशान मे बारहवी भिक्षु पडिमा धारण किये हुए थे। इतने मे सोमल ब्राह्मण आया। उसने क्रोधित हो, गजसुकमाल मुनि के सिर पर चारो ओर मिट्टी की पाल बना कर उसमे जलते हुए खैर के अगारे भर दिये लेकिन गजसुकमाल मुनि का ध्यान भग न हुआ।

इस भीषण विपत्ति से भी गजसुकमाल मुनि का हृदय क्षुब्ध नही हुआ, न ब्राह्मण के प्रति उनके हृदय मे क्रोध ही उत्पन्न हुआ। हा, दया के भाव अवश्य उत्पन्न हुए। सत्य तो उनके हृदय मे स्थित था ही, उसी के प्रभाव से उन्होने विचारा कि, "मेरे सिर पर जो अगारे रखे गये हें, उनसे मेरी कोई क्षति नही हे। पोद्गलिक शरीर मेरा नही हे, मैं तो रूप, रस, गध आदि से रहित उज्ज्वल आत्मा हू। यह शरीर रहता तो अच्छा ही था, किन्तु यदि नष्ट हुआ जा रहा है तो मुझे कुछ दु ख नही हे। हा ! इस ब्राह्मण की अज्ञानता पर मुझे अवश्य दु ख हे, जिसके वश हो यह ऐसा कर रहा हे। इसकी अज्ञानता ही एसा करा रही हे इसका दोष नही हे। आत्मा तो मेरी ओर इसकी समान ही ह। मुझ इसक प्रति किसी प्रकार का क्रोध या घृणा नहीं हे।

अगार जल रह हें। गजसुकमाल मुनि का मस्तक खिचडी की तरह सीज रहा ह। किन्तु गजसुकमाल मुनि शात हें ओर उनकी आत्मा एक दिव्य–लोक की आर प्रस्थान करन की तेयारी कर रही हे।

गजसुकमाल मुनि अन्त तक शात रह। इसी शाति क प्रभाव स उन्ह [illegible] उत्पन्न हा गया आर इसी नाशवान शरीर का त्याग कर मोक्ष [illegible]।

[illegible]

यद्यपि सोमल अकारण ही शातमूर्ति गजसुकमाल मुनि के प्राणो का इस प्रकार ग्राहक बना था, लेकिन गजसुकमाल मुनि सत्य को पहचानते थे, इसी कारण न तो उन्हे दु ख ही हुआ, न सोमल पर क्रोध ही आया। आज लोगो को अपने किये हुए अपराधो का फल भोगने मे भी दु ख और दण्ड देने वाले पर भी क्रोध होता है। इसका कारण सत्य का न जानना है। सत्य न जानने और उसकी शक्ति पाप्त न करने से ही ऐसे लोग अपराध, बिलबिलाहट और कोध का पाप बाधते है।

सत्य के बल के सामने अन्य बल कुछ नही है। सत्य का बल होने पर भय तो नाम मात्र को नही रहता, न दु ख ही होता है। सत्य को जान लेने और उसके द्वारा आत्म–बल प्राप्त कर लेने से ही सुदर्शन सेठ ने अर्जुन को, जिसने 1144 मनुष्य मार डाले थे और श्रेणिक जैसा प्रतापी भी जिसका कुछ न कर सकता था, परास्त कर दिया। इतना ही नही, अर्जुन को भी सत्य द्वारा आत्मा को बलवान् बनाने का उपाय बतलाकर, सच्चे मार्ग का पथिक बना दिया।

असत्य

नहि असत्य सम पातक पुंजा,
गिरि सम होहि न कोटिक गुजा।

— तुलसीदास

जिस तरह करोडो गुजाओ (चिरमियों) का ढेर पहाड के समान नही हो सकता, इसी तरह अन्य पापो का समूह, झूठ के पाप के समान नहीं हो सकता। अर्थात् झूठ का पाप सब पापो से बढकर है।

झूठ सत्य का विरोधी है। पहले कहा गया है कि धर्म का उत्पादक और परलोक मे सुखदाता 'सत्य' ही है। इसके विरुद्ध असत्य धर्म का नाशक और परलोक मे दु ख दाता है। परलोक के लिए तो 'असत्य' हानिप्रद है ही परन्तु इस लोक के लिए भी यह कैसा हानिकारक है, इसकी निन्दा के लिए शास्त्र मे कहा है –

जम्बू ! वितियं च अलिय वयणं लहु सगलहु चवल भणिय भयकर—दुहकर—अयसकर—वेरकरग अरति रति राग देस मणस किलेस वियरण अलिय नियडि—साइ जोयबहुल णीय जण—णिसेविय निसस अपच्चय कारग परमसाहु— गरहणिज्ज परपीला कारग परम कण्ह—लेस सहिय दुग्गति— विणिपाय वड्ढणं—भव पुणब्भवकर चिरपरिचिअ गणुगय दुरत कित्तियं वीय अहम्मदार।

दूसरा आस्रवद्वार अलीक वचन यानि मिथ्या—भाषण है। यह मिथ्या—भाषण लघु—अर्थात जो गुण—गौरव से हीन हैं उनके द्वारा सेवा किया जाता है। यह भय दु ख अकीर्ति और वैर का बढाता है तथा अरति ([illegible] विषयो से द्वेष) रति (सासारिक विषयो से प्रेम) और रागद्वेष रूप [illegible] को देने वाला है। मिथ्या—भाषण करने से मनुष्य का विश्वास [illegible] और इसके प्राणियों की हिंसा भी होती है। [illegible] भाषण [illegible] बार—बार ससार मे जन्म—मरण करना [illegible]

[illegible]

काल से चले आते हुए ससार मे प्राणियो के साथ लगातार चलता आया है। इसका परिणाम बहुत ही भयकर होता है। यह अधर्म का दूसरा द्वार है।

असत्य–अस्वाभाविक, अवास्तविक और कृत्रिम वस्तु है। मनुष्य को असत्य उसी प्रकार सीखना पडता है, जैसे ठग या चोर किसी को अपना गुरु बना कर उससे शनै–शनै चोरी और ठगाई की कला सीखता है। सीखने के पहिले जैसे मनुष्य मे ये दुर्गुण नही होते, उसी प्रकार मनुष्य के स्वच्छ हृदय मे असत्य भी नही होता है।

जो कार्य बात और विचार, मन, वचन या काया से अयथार्थ और दूसरे के हृदय को दु ख देने वाला हो, उसको 'असत्य' कहते हैं। असत्य अयथार्थ तो है ही, परन्तु जिस बात, कार्य या विचार से दूसरे को दु ख पहुचे तो उसके वास्तविक और यथार्थ होने पर भी शास्त्रकारो और विद्वानो ने उसकी गणना, सत्य मे नही की है– जैसे सूयगडाग सूत्र मे कहा है –

सच्चेसु वा अणवज्ज वयन्ति।

'जो वाक्य पाप–रहित और दूसरे को पीडा उत्पन्न करने वाला न हो, वही सत्य है। यानि जिस वाक्य से दूसरे को पीडा हो, वह सत्य नही है।

दशवैकालिक सूत्र मे मुनियो को भाषा–प्रयोग का उपदेश देते हुए कहा है –

तहेव काण काणत्ति, पडग पडगत्ति वा।
वाहय वावि रोगित्ति, तेण चोरत्ति नो वए।।

'काने को काना नपुसक को हीजडा, व्याधिग्रस्त को रोगी, चोरी करने वाले को चोर, ऐसा कटु वाक्य यथार्थ होते हुए भी न कहना चाहिये। यह सत्य नही कहलाता क्योकि इससे दूसरे के हृदय को दु ख होता है।

और कहा है –

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चागोसा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगगो।।

शकित भाषा के समान कठोर भाषा, सत्य होने पर भी लोक मे प्राणियो का घात करने वाली अर्थात अत्यन्त अनर्थकारक होती है। अत कटु सत्य का भी प्रयोग न ही करना चाहिए।'

तात्पर्य यह है कि सत्य जिसके कथन से दूसरे के हृदय को दु ख पहुचे सत्य नही वरन् असत्य है। मनुस्मृति मे भी कहा है –

हीनाङ्गनतिरिक्ता न विद्याहीनान् वयोऽधिकान्।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनाश्च नाक्षिपेत्।।

भावार्थ–हीन अग वाले को काणा इत्यादि, अधिक अग वाले को छ उगली वाला आदि, अविद्वान को मूर्ख, अधिक आयु वाले को बूढा–डोसा आदि, रूपहीन को कुरूप, द्रव्यहीन को कगाल ओर हीन जाति वाले को नीच आदि शब्दो से न कहे। यद्यपि यह भाषा यथार्थ हे, किन्तु इन वाक्यो से सुनने वाले का दिल दु खता हे, इसलिये ऐसा 'सत्य' सत्य नही है।।1।।

योगदर्शन के भाष्य मे वेदव्यास जी ने कहा है –

**एषा सर्वभूतोपकारार्थ प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय यदि चैव म–
प्यभिधीयमाना, भूतोपघाताय परैव स्यात् न सत्य भवेत्।**

वाक्यो का प्रयोग इस प्रकार से करना चाहिये, जिससे जीवो का मगल हो, किसी को भी दु ख न हो। यदि वाक्य के ठीक–ठीक उच्चारण से भी दूसरे को दु ख हो तो वह सत्य नही वरन् असत्य है।

शास्त्रकारो और विद्वानो ने तो इस प्रकार उस सत्य की, जो दूसरे के हृदय को दुखित करे, निन्दा करके उसे असत्य बतलाया ही हे, परन्तु ऐसे कटु सत्य का प्रयोग करने वाला ससार मे भी निन्द्य समझा जाता हे। इसीलिये जिस बात, कार्य या विचार से दूसरे को दु ख पहुचे, वह सत्य नही कहलाता। उसकी गणना सभी ने झूठ मे ही की है।

दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन की टीका मे मृषावाद (झूठ) चार प्रकार का बतलाया गया है। सद्भाव– प्रतिषेध असद्भावोद्भावन, अर्थान्तर ओर गर्हा। सद्भाव प्रतिषेध उस झूठ को कहते हैं, जिसके द्वारा किसी के हृदय मे स्थित अच्छे भावो को बुरा बताया जाय अथवा विद्यमान वस्तु को अविद्यमान कहा जाय। जो वस्तु नही हैं, उसका विधान करना असद् भूतोद्भावन असत्य कहलाता हे। जेसे–जीव को न मारने मे धर्म ओर मरते हुए जीवन को बचाने म पाप बताना या किसी की किसी प्रकार सहायता करने माता–पिता पति की सेवा करने ओर विनय करने को पाप बताना तथा उन्हे कुपात्र समझने क भाव भरना आदि।

अर्थान्तर' उस झूठ को कहते हें जिससे किसी बात पुस्तक वस्तु आदि के वास्तविक अर्थ या गुण आदि की जगह अवास्तविक गुण, अर्थ आदि बताय जाय। जस–गाय का घाडा बताना अमृत को विष या विष को अमृत बताना शास्त्र क सही अर्थ का छोड कर दूसरा ही अर्थ करना।

उस कार्य बात या विचार का गर्हा झूठ कहते हैं जिससे किसी की निन्दा हा या किसी क हृदय का दु ख पहुच।

शास्त्र म गणनानुसार मिथ्या–भाषण क तीस नाम बतलाय हैं। जेसे [illegible] (झूठ) [illegible] 2 अनार्यलाग करत हे इससे अनार्य 3 माया स युक्त [illegible]

तथा मिथ्या रूप होने के कारण इसका नाम 'माया मृषा' 4 भी है। जो वस्तु नही है, उसे यह बतलाता है, इसलिये इसका नाम 'असत्य' 5 है। दूसरे को ठगने के लिए अधिक को कम या कम को अधिक बताता है, कपट से भरा हुआ है और जो वस्तु नही है उसे बतलाता है, इसलिए इसका नाम कूट कपट 6 है। सच्ची बात से यह अलग रहता है और सत्य इससे हटा हुआ है, इसलिए इसका नाम निरर्थक अनर्थक' 7 है। द्वेष के कारण इससे दूसरे की निन्दा की जाती है, अथवा साधु पुरुष इसकी निन्दा करते है, इसलिए इसका नाम 'द्वेष गर्हणीय' 8 है। सीधा न होने के कारण इसका नाम 'वक्र' 9 है। पाप या माया और उसका कारण होने से, इसका नाम 'कल्क तत्कारण' 10 है। ठगने के कारण इसका नाम 'वञ्चना' 11 है। किये हुए काम से, मिथ्या बोलकर इन्कार करने से इसका नाम 'मिथ्या पश्चात्कृत 12 है। अविश्वास उत्पन्न करने के कारण इसका नाम 'सती' (अविश्वास) 13 है। अपने दोष को और दूसरे के गुण को झूठ बोलकर ढाकने से इसका नाम 'उच्छन्न 14 है। अच्छे मार्ग से हटा कर, न्यायरूपी नदी के तट से अलग रखता है, इसलिए इसका नाम 'उत्कूल' 15 है। पीडित मनुष्यो से बोला जाने के कारण इसका नाम आर्त्त' 16 है। किसी के ऊपर झूठा अपराध लगाने से इसका नाम 'अभ्याख्यान' 17 है। पाप का कारण है, इससे इसका नाम 'किल्विष' 18 है। मण्डलाकार टेढा होने से, इनका नाम 'वलय' 19 है। इसके हृदय का पता नही पडता इससे इसका नाम 'गहन' 20 है। स्पष्ट न होने के कारण, इसका नाम 'मन्मन' 21 है। वस्तुस्वरूप को ढाकता है, इस कारण, इसका नाम 'नूम' 22 है। अपने कपट को छिपाने के लिए बोला जाता है, इसलिए इसका नाम 'निष्कृति' 23 है। इसमे विश्वास नही होता, इसलिए इसका नाम 'अप्रत्यय' 24 है। इसका व्यवहार अनुचित होने के कारण इसको असमय' 25 कहते है। वस्तु के न होने पर भी होना बतलाता है, इसलिये इसका नाम 'असत्य सन्धत्व 26 है। यह पुण्य और सत्य का शत्रु है इस कारण इसका नाम 'विपक्ष' 27 है। इससे बुद्धि बिगड जाती है, इसलिए इसका नाम 'अपधीक' 28 है। माया के कारण अशुद्ध होने से ऊपद्धि शुद्ध' 29 नाम है। वस्तु वा सत्ता को ढक देता है इसलिये इसे अवलोप' 30 कहते है। अलीक वचन के ये तीस सार्थक नाम है। इस प्रकार इसके और भी अनेक नाम होते है।'

झूठ का यह थोडा सा स्वरूप बताया है। इसको अपनाने वाला सदा दुःख की ओर ही अग्रसर होता है।

सत्य से लाभ और असत्य से हानि

प्रिय सत्य वाक्य, हरति हृदयं कस्य न सखे।
गिर सत्या लोक प्रतिपदमिमामर्थयति च।।
सुरा सत्याद्वाक्याद्ददति मुदिता कामिकफल।
अत सत्याद्वाक्याद् व्रतमभिमत नास्ति भुवने।।

प्रिय सत्य वाक्य किसके हृदय को हरण नही करते अर्थात् सबका हृदय हरण कर लेते हैं। लोक, पद–पद मे सत्य की याचना करते हैं। देवता सत्य से प्रसन्न होकर मनोवाछित फल देते हैं। इसलिए ससार मे, सत्य से वढकर दूसरा कोई व्रत नहीं है।

सत्य असत्य के विषय मे ऊपर सक्षेप मे बतलाया जा चुका है। अब यह देखना हे कि सत्य को धारण करने से क्या लाभ हे ? ओर झूठ को न तजने से क्या हानि हे ?

सत्य की पालना तीन प्रकार से होती है। मन से, वचन से ओर काया से।

जिस विचार म ससार के किसी प्राणी को कष्ट देने की कल्पना न की गई हो जिसके प्रकट कर दने पर किसी प्रकार की कुत्सित भावना का परिचय न मिले ओर वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त करके निष्पक्ष भाव से प्राणीमात्र को अपना मित्र समझते हुए जो विचार किया जाय, वह मानसिक सत्य है।

जिस वाणी म किसी को अनुचित कष्ट पहुचने योग्य बात न कही गई [illegible] निष्कपटतापूर्वक बोली गई हो जिसका वक्ता ने निःस्वार्थ–भाव से [illegible] का [illegible] करने के लिए कहा हो जो बात जैसी देखी सुनी [illegible] समझाने को कही हो वह वाचिक अर्थात वाणी [illegible]।

जिस कार्य के करने से ससार के किसी प्राणी का अहित्त न होकर हित ही हो, स्वार्थ, छल, दम्भ, ईर्ष्या, द्वेषादि दुर्गुणो से रहित हो, शास्त्र मे वर्णित नीति को जिस कार्य से क्षति न पहुचती हो, वह कायिक सत्य है।

उपरोक्त तीनो भेदो का एकीकरण हो जाने पर शास्त्र मे जिस सत्य को भगवान् ने पूर्ण सत्य कहा है, वह सत्य तैयार हो जाता है अर्थात् ऐसे सत्य का पूर्ण रूप से पालन करने वाले मे और ईश्वर मे कोई अन्तर नही रहता।

सत्य विचार, सत्य भाषण और सत्य व्यवहार करने वाला मनुष्य ही उत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकता है। जिस मनुष्य मे सत्य नही है, समझना चाहिए कि उसकी देह जीव–रहित काष्ठ–पाषाण की तरह, धर्म के लिए अनुपयोगी है।

मनुष्य को असत्याचार से प्रकट मे चाहे कुछ लाभ दीखे परन्तु वे लाभ क्षणिक और अस्थायी होते है। तथा ऐसे लाभ के पीछे अनेक ऐसी हानिया छिपी रहती है, जो उस समय नही दीखती।

जो मनुष्य सत्य का आचरण नही करता, वह ससार मे कभी सुखी नही रह सकता है, और न उसका कोई आदर ही करता है। जब इस लोक के लिए यह बात है, तब परलोक के लिए भी यही बात हो तो इसमे सन्देह ही क्या है?

ससार के लिए भी सत्य का व्यवहार अत्यावश्यक है। यदि सत्य–व्यवहार नि शेष हो जाये, तो सारे कारोबार उसी दिन बन्द कर देने पडे क्योकि असत्याचरण जब प्रत्येक व्यक्ति का ध्येय हो जायेगा, तो कोई एक दूसरे पर किचित् भी विश्वास कैसे कर सकता है? इन्ही बातो को दृष्टि मे रख कर किसी ने कहा है –

सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रवि ।
सत्येन वाति वायुश्च, सर्व सत्ये प्रतिष्ठितम्।।

'सत्य ने ही पृथ्वी को धारण कर रखा है, सत्य से ही सूर्य तपता हे सत्य से ही हवा बहती है और सब कुछ सत्य से ही स्थिर है।'

प्रकृति ने मनुष्य को ही सत्याचरण नही सिखाया है बल्कि वह स्वय भी सत्य का अनुसरण करती है अर्थात समयानुसार ऋतुओ का परिवर्तन ओर ग्रह–उपग्रहो का ठीक–ठीक अपने कक्ष पर चलना भी सत्य की पुष्टि करता है। यदि गर्मी की ऋतु के स्थान पर वर्षा ऋतु ओर वर्षा–ऋतु के स्थान पर हेमन्त ऋतु आदि उलटफेर हो जाया करे तो कैसी भारी गडबडी हो जाये यह बात सब जानते है।

जिस प्रकार प्रकृति के नियम सत्य का पालन करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के अन्दर भी एक ऐसा पदार्थ है, जो सदा सत्य–पालन का आदेश देता हे। उस वस्तु का नाम है 'आत्मा'। किसी झूठे कार्य का आत्मा कभी समर्थन नही करता। यदि मनुष्य अपने हृदय मे बुरे विचारो ओर दुष्कर्मो की आधी लाकर, आत्मा को चारो ओर से धूलि–आच्छादित न कर दे, तो आत्मा उसे सर्वदा सत्य मार्ग ही दिखलायेगा। इतना सब कुछ होते हुए जब कोई भी मनुष्य क्रोधादि दुर्गुणो को हृदय से निकाल कर, शात भाव से विचार करता हे, तो उसे वही दिव्य प्रकाश किसी अश मे दिखाई देता है, जो सत्यपालन करने वाले को दिखाई दिया करता है। अर्थात् आत्मा उसे ऐसा ही मार्ग दिखाता हे जो उसके लिए कल्याणकर हो। जब कोई मनुष्य किसी ऐसे कार्य को करना चाहता है, जो सत्य के विरुद्ध हो, तो उसकी आत्मा भीतर ही भीतर सकेत करती है कि यह कार्य बुरा है। इसको करना तुम्हारे लिए उचित और कल्याणकर नही है। यद्यपि आत्मा की यह पुकार मानव के पाप पुद्‌गलो के पुज रा आच्छादित मन तक पूरी नही पहुचती, परन्तु कैसा भी घोर पापी मनुष्य क्या न हो इरा मधुर सन्देश का आभास उसे अवश्य मिल जाता है।

जो रात्य आत्म–रूप से मनुष्य के हृदय मे स्थित है, वही सत्य सारे रासार ग भिन्न–भिन्न रूपो मे दिखाई देता है। प्रत्येक पदार्थ मे यह किसी न किरी रूप ग अवश्य मोजूद हे। यदि यह न हो, तो ससार की स्थिति ही एक विचित्र प्रकार की हा जाय। सत्य की अनुपस्थिति मे मनुष्य ही मनुष्य के प्राणो का ग्राहक वन सकता हे।

जिरा मनुष्य के हृदय से सत्य की शक्ति निकल जाती हे अर्थात् आत्मा का उसक बुर विचारा क पुद्‌गल चारो तरफ से घेर लेते हें वह मनुष्य न करन याग्य कार्यो का भी करके उराके फलस्वरूप नाना प्रकार क दण्ड भोगता आर पापकर्म वाधता हे। एसा मनुष्य जिन–जिन कार्यों का करता हे वे कार्य उसे ही शातिदाता नही हात। जेस एक मनुष्य सत्य को भूलकर क्रोध से उन्मत्त हाकर किसी मनुष्य का वध कर डालता हे पश्चात वह चाहे भाग भी जाय किन्तु उसकी आत्मा का कदापि सुख नही मिलता। जीवन भर उसकी आत्मा उसे कोसती रहती है। यदि सयाग सा वह पकड लिया गया और न्यायाधीश ने उसे प्राण–दण्ड दिया ता फेसला सुनन क समय से प्राण ... समय तक वह अपने ही विचार म कितनी ही वार मरता ओर ...।

वह ऐसी घबराहट मे नही पडता, जैसी घबराहट मे असत्य का आश्रय लेने वाला मनुष्य पड जाया करता है। साराश यह है कि सत्य के पालन करने वाले को किसी भी समय अशान्ति नही होती।

सत्य इस लोक और परलोक मे कल्याण करने वाला और असत्य चक्कर मे डालने वाला है। इन दोनो के भेदो को जानकर भी, जो मनुष्य सत्य का पालन और असत्य का त्याग नही करता, वह बुद्धिमान् नहीं कहा जाता।

जो लोग सत्य मे भय और असत्य मे सुख मानते हैं, वे भारी भ्रम मे है। उनके हृदय की वृत्तिया ही इस ढग की बन गई हैं, जिससे वे ऐसा समझने लग गये हैं। किन्तु वास्तव मे यह बात नही है। सच्चा सुख तो सत्य के ग्रहण करने से ही मिल सकता है। जिस प्रकार अफीम खाने वाला व्यक्ति अफीम खाने मे ही सुख मानता है, किन्तु वास्तव मे देखा जाये तो अफीम न खाने मे ही सुख है, इसी प्रकार असत्य का आश्रय ग्रहण करने वाला व्यक्ति भी असत्य मे ही सुख समझता है किन्तु उसका यह व्यसन छूट जाय तो वह भी मानने लगेगा कि मै भूल करता था, वास्तविक सुख तो सत्य का आश्रय ग्रहण करने से ही हो सकता है।

जिस प्रकार अफीम का नशा छोडने वाले मनुष्य को पहले कष्ट का अनुभव होता है, उसी प्रकार असत्य को छोड़कर सत्य ग्रहण करने वाले को भी कुछ कष्ट–सा अनुभव होता है। किन्तु यदि उसके हृदय मे सद्ज्ञान का प्रकाश उदय हो जाता है, तो वह इस कष्ट को बिना अनुभव किये ही पार लग जाता है।

जिस प्रकार बन्दर पीजरे मे कैद होकर अटपटापन अनुभव करता है, उसी प्रकार चचल चित्त वाले मनुष्य को भी सत्य मार्ग का अवलम्बन करने मे बडा अटपटापन लगता है। क्योकि उसे असत्य मार्ग पर चलने का अभ्यास हो गया है ओर वह उस मार्ग का व्यसनी बन गया है। यह व्यसन या तो थोडा सा कष्ट सहकर छूट सकता है या किसी पूर्ण ज्ञानी के उपदेश से।

असत्य से मनुष्य को कभी भी शाति नही मिल सकती। शान्ति सदैव सत्य का आश्रय लेने से ही मिला करती है। जो मनुष्य असत्य मे सुख का अनुभव करते है उन पर असत्य का पूरा कब्जा हो चुका है ऐसा समझना चाहिए।

जो मनुष्य अफीम खाना शुरू करता है वह सोचता है कि मै इसे वश मे रखूगा किन्तु परिणाम बिल्कुल उल्टा होने लगता है। थोडे ही दिनो मे वह अफीम अपने भक्त पर ऐसा कब्जा जमा लेता है कि जब तक उसे अफीम नही

मिल जाता वह चलने फिरने से लाचार हो जाता है और बडे दु ख का अनुभव करता हे। ठीक इसी प्रकार असत्य का सेवन करने वाले मनुष्य की दशा होती हे। जब वह असत्य का सेवन प्रारम्भ करता है, तब सोचता है कि मैं इस पर कब्जा रखूगा, किन्तु कुछ ही दिनो मे असत्य उसके जीवन का मूलमन्त्र-सा बन जाता हे। असत्य के बिना उसको व्यवहार चलाना कठिन दिखाई देने लगता है और शनै -शनै वह पतन की ओर जाता हुआ असत्य के ऐसे भारी खड्डे मे जा गिरता है, जहा से बिना किसी अच्छे मुनि-महात्मा या किसी अन्य सत्यमूर्ति मनुष्य की सहायता के उसका उद्धार होना भी कठिन हो जाता हे।

मनुष्य को जब तक अनुभव नहीं हो जाता, तब तक सत्य का महत्त्व उसकी समझ मे नहीं आता। जब उसके सिर पर कोई ऐसी आपत्ति आ पडती हे जो असत्य का आश्रय लेने से उत्पन्न हुई हो, आई हो तो तत्काल ही उसके समझ म आ जाता है कि सत्य का क्या महत्व है और उसी समय से वह असत्य का परित्याग कर देता है।

सत्यमार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन भी है और फूलो क बिछोने पर सोने के समान सरल भी। इसमे प्रकृति की भिन्नता का अन्तर है। ऐसे मनुष्य भी हैं जो अकारण ही असत्य बोलते रहते हैं और सत्य-व्यवहार को तलवार की धार पर चलने के समान कठिन मानते हैं। उनका विश्वास हे कि सत्य व्यवहार करने वाला मनुष्य संसार मे जीवित नही रह सकता। दूसर एस भी मनुष्य हो चुक हैं, ओर हैं, जो असत्य व्यवहार करने की अपेक्षा मृत्यु को श्रेष्ठ मानते हैं। सत्य-व्यवहार उनके लिए फूलो की सेज है। फिर उस मार्ग म उन्ह, चाह कितने ही कष्ट क्या न हो किन्तु वे उनकी परवाह किये बिना ही प्रसन्नतापूर्वक अपने मार्ग पर चलते रहते हैं।

जो मनुष्य सत्यमार्ग का पथिक हे उस पर शत्रु भी विश्वास करता है और यह बात ध्रुव सत्य हे कि वह शत्रु स भी विश्वासघात नही करता। इसके लिए महाभारत म वर्णित एक कथा का उदाहरण दिया जाता हे।

[illegible] महाभारत क युद्ध म दुर्योधन की प्राय सब सेना और [illegible] भाइयो म स एक दुर्योधन ही जीवित बचा उस समय दुर्योधन न सोचा कि मै अकेला क्या कर सकता हू ? पाडवो क पास इस [illegible] और मै अपन भाइयो म स अकेला हू। यह सोच [illegible] एक तालाब की जलराशि म जा छिपा। कई दिन [illegible] क पश्चात् उसन सोचा कि मै क्षत्रिय हू, उद्योग

करना मेरा परम कर्त्तव्य है। अत कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए जिससे कि मेरी मृत्यु भी न हो और मैं पूरी शक्ति के साथ अकेला ही पाडवो से युद्ध कर सकू। सोचते–सोचते उसके विचार मे यह बात आई–'युधिष्ठिर सरल हृदय है और सदैव सत्य भाषण करते हैं, अत उन्ही से कोई ऐसी युक्ति पूछनी चाहिए, जिससे मै अजेय हो जाऊ। यह सोचकर दुर्योधन जल से बाहर निकला और युधिष्ठर के पास जाकर पूछने लगा–महाराज । मुझे कोई ऐसी युक्ति बताइये जिससे मै अजेय हो जाऊ और भीम या अर्जुन, जिनका मुझे विशेष भय है, मेरा कुछ न बिगाड सके। युधिष्ठर ने उत्तर दिया–राजन् । यह सिद्धि तो तुम्हारे घर मे ही है, कही बाहर जाने की आवश्यकता नही है। माता गधारी बडी सती है। यदि वे एक दृष्टि से तुम्हारे खुले शरीर की ओर देख ले तो तुम्हारा सारा शरीर वज्र के समान कठोर हो जाये। कितु एक बात है, वह यह कि शरीर के जिस भाग पर उनकी दृष्टि न पडेगी, वह कच्चा रह जायेगा।

युधिष्टिर की यह बात सुनकर दुर्योधन अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सोचने लगा–अब क्या है ? अभी जाकर माता गाधारी के सामने से नग्न (निर्वस्त्र) होकर निकल जाऊ। बस, फिर तो अर्जुन और भीम मेरा कुछ भी नहीं बिगाड सकेगे।

दुर्योधन यह सोचता हुआ अपने घर की ओर जा रहा था कि मार्ग मे उसे श्रीकृष्ण मिले। उन्होने दुर्योधन के हृदय की बात जान कर कहा – 'दुर्योधन । यह युक्ति तो धर्मराज युधिष्ठर ने अच्छी बतलाई और इससे तुम्हारा शरीर भी वज्र बन जायेगा, किन्तु बिल्कुल नग्न होकर, तुम्हे अपने माता के पास जाना उचित नही है। लज्जा की रक्षा के लिये, कम से कम एक कमल–कोपीन तो अवश्य लगा लेना।'

पहले तो इसके लिए दुर्योधन कुछ आनाकानी करता रहा, किन्तु श्रीकृष्ण के नीति बतलाने पर उसने यह बात स्वीकार कर ली। वह अपनी माता के पास गया और उससे यह सारी कथा कही। गान्धारी यह सुनकर चौकी। उसे यह नही मालूम था कि मेरे मे ऐसी शक्ति मौजूद है। किन्तु युधिष्ठर सदैव सत्य बोलते है, कभी असत्य भाषण नही करते अत अविश्वास करने का कोई कारण भी न था। गाधारी ने एक दृढ–दृष्टि से दुर्योधन को देख लेना स्वीकार किया। तब दुर्योधन एक कमल–कोपीन लगाकर मा के सामने आ खडा हुआ। गाधारी ने एक दृढ–दृष्टि से दुर्योधन के शरीर की ओर देख लिया। इससे उसका सारा शरीर तो वज्र के समान कठिन हो गया किन्तु

जो स्थान ढका हुआ था, वह कच्चा रह गया। दुर्योधन ने सोचा कि—इस स्थान के कच्चे रह जाने से मेरी क्या क्षति हो सकती हे ? यह स्थान तो धोती के भीतर रहता है। इस पर कौन चोट करने जाता है? यह विचार कर, वह बाहर निकल आया और पाडवो के पास जाकर, दूसरे दिन भीम से गदायुद्ध करने की बात तय की।

गान्धारी के नेत्रो मे ऐसी शक्ति होने का कारण, उसका पतिव्रत धर्म ही था। उसने अपने नेत्रो से कभी भी किसी परपुरुष को बुरी दृष्टि से नही देखा था। पतिव्रता स्त्री के नेत्रो मे यह शक्ति होती है कि यदि वह किसी को पुत्र की तरह प्रेम की दृढ—दृष्टि से देख ले तो उसका शरीर वज्रमय हो जाय ओर यदि क्रोध की दृष्टि से देख ले तो भस्म हो जाये।

मनुष्य यदि चाहे, तो अपने नेत्रो और वाणी मे सत्य से ऐसी शक्ति पेदा कर सकता है क्योकि असत्य स्थान पर दृष्टि न डालने और असत्य भाषण न करने से वाणी और नेत्रो मे ऐसी शक्ति उत्पन्न हो सकती है, कि नेत्र रा जिरा देख ले, उसका शरीर वज्र सा दृढ हो जाय, या भस्म हो जाय और वाणी स जा कुछ कह दे, वही पूरा हो जाय।

प्राय पूर्वकाल के लोगो की वाणी मे वह शक्ति होती थी कि वे जिसक लिए जा कुछ कह देते थे, वही हो जाता था। उनका आशीर्वाद या शाप मिथ्या नही हाता था। वे लोग रात्य का पालन करते और बात—बात म न ता किसी का आशीर्वाद ही दते थे, न शाप ही। आज के लोग दिन—रात दूसर का बुरा—भला करत हें, अर्थात् आशीर्वाद या शाप दिया करता हें परन्तु कुछ नही हाता। इसका कारण यही हे कि सत्य का न पहिचानन रो उनकी [illegible] निस्तेज हा जाती हे। यदि रात्य का पहिचान ले, ता, न ता वे इरा प्रकार [illegible] का भला—बुरा ही चाह ओर न चाहा हुआ भला—बुरा निष्फल ही हा।

दूसर दिन दुर्योधन ओर भीम का गदा—युद्ध हुआ। भीम ने अपनी पूरी [illegible] दुर्योधन क सिर [illegible] छाती भुजा आदि स्थाना पर गदा—प्रहार किय [illegible]। [illegible] लगती आर टकरा कर लाट आती दुर्योधन का बाल [illegible] भीम का अपनी प्रतिज्ञा याद आइ कि [illegible] [illegible] दुर्योधन की जाघा चूर्ण करन की प्रतिज्ञा की थी। [illegible] गदा का प्रहार दुर्योधन की जाघा पर [illegible] गदा लगते ही चूर्ण हो गई और दुर्योधन [illegible] [illegible] कर यह विचारना है कि [illegible]

युधिष्ठर का यह व्यवहार कैसा कहा जा सकता है, जो शत्रु को भी उचित और सत्य सलाह ही देते है।

जो मनुष्य सत्य–व्रत के पालने वाले है वे अपनी शरण मे आये हुए शत्रु के साथ भी दुष्टता का व्यवहार नही करते, शरण मे आया व्यक्ति, जो सलाह पूछता है, बिना किसी प्रकार का भेद–भाव रखे और बिना किसी प्रकार की ईर्ष्या के वे ठीक–ठीक बतला देते हैं। वे यह नही देखते कि शरणागत शत्रु है या मित्र।

युधिष्ठिर यह जानते थे दुर्योधन से मेरा युद्ध चल रहा है। मेरे भाई भीम और अर्जुन को हराने के लिए ही यह मुझ से सलाह पूछने आया है। इस समय यदि वे चाहते तो कोई ऐसी राय बतला सकते थे, जिससे स्वय दुर्योधन अपना नाश अपने हाथ से कर लेता। किन्तु युधिष्ठर ने ऐसा न करके स्वच्छ हृदय से, सच्ची और लाभदायक सम्मति ही दी। ऐसा करने वाले, सत्यमूर्ति युधिष्ठर के सत्यव्रत की जितनी प्रशसा की जाय थोडी है।

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि जो मनुष्य सत्यमार्ग का पथिक है, वह अपने शत्रु की क्षति के लिए भी कभी झूठ का आश्रय नही लेता बल्कि आवश्यकता पडने पर, शत्रु यदि उपाय पूछे तो शत्रुता को दूर रख कर एक मित्र की तरह राय देता है।

युधिष्ठिर को दुर्योधन ने कितने कष्ट दिये थे? वह युधिष्ठिर को अपना कैसा भयकर शत्रु समझता था। फिर भी युधिष्ठिर ने दुर्योधन से असत्य भाषण नही किया। दुर्योधन के अजेय होने पर, युधिष्ठिर की ही हानि थी क्योकि उसे पराजित करने के लिए ही यह युद्ध हुआ था। लेकिन युधिष्ठर ने ऐसे समय मे भी सत्य को ही प्रधानता दी और अपनी हानि की जरा भी चिन्ता न की। आज के लोगो पर, युधिष्ठिर जैसी कोई विपत्ति न होते हुए भी वे असत्य को कितनी प्रधानता देते है और शत्रु से झूठ न बोलना तो दूर रहा, मित्र से भी झूठ बोलने मे सकोच नही करते। ऐसे लोग इस बात को बिल्कुल भूल जाते हे कि असत्य की विजय नही होती, विजय सत्य की ही होती हे। यद्यपि युधिष्ठिर ने स्वय दुर्योधन को अजेय होने की युक्ति बता दी थी और वह युक्ति असत्य नही थी फिर भी सत्य की विजय हान क लिए दुर्योधन को मार्ग मे श्रीकृष्ण मिल गये ओर उसे पराजित होना पडा। इसी प्रकार सत्य की विजय ओर असत्य की पराजय होने क लिय कुछ न कुछ कारण उत्पन्न हो ही जाया करते हे।

सत्य बडा ही महत्त्वपूर्ण ओर कल्याणकारक सिद्धान्त हे। इसके पालन करने वाले को तो सदैव आनन्द हे ही किन्तु जो व्यक्ति सत्य का पालन करने वाले व्यक्ति के सम्पर्क मे एक बार भी आ जाता हे ओर उसकी एक भी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह भी भविष्य मे अपना कल्याण–मार्ग पा जाता हे। परलोक के लिए तो सत्य सुखदायक ओर झूठ दुखदायक हे ही परन्तु इस लोक मे सत्यवादी की प्रशसा और झूठे की निन्दा होती हे। इसके सिवाय झूठ सदा चल भी नही सकता। एक समय सम्भव हे कि झूठ द्वारा किसी को धोखा दे दिया जाय, परन्तु दूसरे समय, वह झूठा मनुष्य धोखा देने मे समर्थ न होगा बल्कि झूठे मनुष्य की सच्ची बात पर भी सहसा कोई विश्वास नहीं करेगा। इसके लिए एक कवि ने भी कहा हे –

फेर न ह्वै है झूठ से, जो करिहौ व्यवहार।
जैसे हाडी काठ की, चढै न दूजी बार।।

अर्थात्–झूठ का व्यवहार फिर उसी तरह नही हो सकता, जेसे लकडी की हाडी दूसरी बार नही चढ सकती।

आजकल के लाग सत्य का महत्त्व भूल जाने के कारण व्यापारादि कार्यो म तो स्वार्थवश झूठ का प्रयोग करते ही हें, परन्तु धर्म–कार्यो मे भी झूठ का स्थान देने से नहीं हिचकते ओर जहा स्वार्थ भी नही हे, ऐसी जगह अर्थात हसी–मजाक आदि व्यर्थ की वातो मे भी झूठ की भरमार रखते हें। लेकिन इस प्रकार का झूठ का प्रयोग करने से न तो वाणी मे ही तेज रहता हे, न ससार मे काई विश्वास ही करता हे। जहा सत्यवादी के केवल सकेत–मात्र पर भरासा किया जाता हे वहा झूठे के दस्तावेजो पर भी विश्वास करन म लाग हिचकत हें। झूठ वालन वाल का इतना अविश्वास हो जाता हे कि फिर उराक विश्वास पर काई कार्य नही छोडा जाता। व्यवहार सूत्र मे कहा हे कि –

"अन्य अपराधा की सरलतापूर्वक आलोचना कर लन पर सूत्रोक्त [illegible] क पश्चात उस साधु का आचार्यादि श्रेष्ठ की पदवी दी भी जा सकती ह लेकिन [illegible] कारण हात हुए भी जो साधु कपट–युक्त झूठ बोल [illegible] प्ररूपणा कर वह आजीवन एसी किसी पदवी का पान का [illegible] नहीं हा सकता।"

झूठ [illegible] स बढकर पाप ह ओर सत्य सब धर्मो स बढकर धर्म ह [illegible] सत्य का न समझन स ही हात हें इसलिए [illegible] झूठ का त्याग कर सत्य का अपनाव।

श्रावक के लिए त्याज्य असत्य

नास्ति सत्यात्परो धर्मो, नानृतात्पातक परम्।
स्थितिर्हि सत्यधर्मस्य, तस्मात् सत्य न लोपयेत्।।

— महाभारत, शातिपर्व

"सत्य के समान धर्म नही है, न असत्य के समान पाप ही है। धर्म सत्य के आश्रय से टिकता है, इसलिए सत्य का लोप कभी न करना चाहिए।

जैन–शास्त्र मे पच–महाव्रत बतलाये गये हैं। उन पच–महाव्रतो मे पहला महाव्रत अहिसा का पालन और हिसा का त्याग है तथा दूसरा महाव्रत सत्य का धारण और मृषावाद का त्याग है। इन महाव्रतो को साधु तो सम्पूर्ण और सूक्ष्म रूप से धारण करता है, लेकिन श्रावक गृहस्थ होने के कारण पूर्ण रूप से धारण करके इनका पालन नही कर सकता। अहिसाव्रत का पूर्ण रूप से पालन करने मे छ काय के जीवो की हिसा का त्याग होता है और श्रावक गृहस्थ होने के कारण उन्हे खेती, व्यापारादि–ससार के आवश्यक कार्यो को करना पडता है। इन सासारिक कार्यो मे वह सर्वथा जीव–हिसा से बच सके यह असम्भव है। इसी बात को ध्यान मे रख कर शास्त्रकारो ने श्रावक को ऐसा अहिसा–व्रत बतलाया है, जिसमे श्रावक के ससार–व्यवहार मे भी बाधा न पहुचे और वह व्रत का पालन भी कर सके। श्रावक के अहिसा–व्रत मे केवल स्थूल हिसा का ही त्याग होता है। गृहस्थाश्रम पालने वाला गृहस्थ स्थूल–सूक्ष्म का विचार न करके स्थूल के बदले सूक्ष्म हिसा का पहिले ही त्याग करने जाता है तो वह ऐसा चक्कर मे पडता है कि सूक्ष्म हिसा का व्रत तो नही पालता सो नही पालता, लेकिन स्थूल हिसा के त्याग से भी पतित हो जाता है। इसलिए बुद्धिमान् लोग पहले अहिसा व्रत को धारण करके स्थूल पाप को छोडते है और फिर जब वे गृहस्थी के कार्यो को छोड देते हैं तब सूक्ष्म अहिसा व्रत को धारण करके सूक्ष्म पापो का भी त्याग करते हैं।

जिस प्रकार अहिसा मे स्थूल और सूक्ष्म के भेद किये गये हैं उसी प्रकार सत्य मे भी स्थूल और सूक्ष्म के भेद बतलाये हैं। स्थूल बातो के लिए झूठ बोलना स्थूल झूठ और सूक्ष्म रीति से झूठ बोलना सूक्ष्म झूठ कहा जाता है।

श्रावक को जैसे अहिसा–व्रत मे स्थूल हिसा का त्याग बताया गया है उसी तरह सत्यव्रत मे भी स्थूल मृषावाद का त्याग बताया गया है। जिस कार्य, बात या विचार को ससार–व्यवहार मे कहा जाता है कि यह झूठ है और जिससे किसी जीव को अकारण ही दु ख होता है उसे स्थूल झूठ कहते हैं। शास्त्र मे श्रावक के इस दूसरे व्रत–सत्य के धारण और स्थूल झूठ त्याग को स्थूल–मृषावाद–विरमण–व्रत कहा है।

गृहस्थ सूक्ष्म मृषावाद से नही बच सकते। इसलिए सूक्ष्म मृषावाद का त्याग गृहस्थ श्रावको को न बतला कर साधुओ के लिए ही बतलाया है और श्रावको को स्थूल मृषावाद का त्याग बतलाया है। यदि गृहस्थ श्रावक पूर्ण या किसी अश मे सूक्ष्म मृषावाद से भी बच सके, तो कोई बुराई की बात नही हे लकिन शास्त्रकारो ने उसके लिए स्थूल–मृषावाद का त्याग ही आवश्यक बतलाया हे क्योकि सूक्ष्म–मृषावाद के त्याग मे, सत्य की जो व्याख्या पहले की गई हे, उसका पूर्ण रीति से पालन करना पडता है और उसके विरोधी झूठ का सर्वथा त्याग करना पडता हे। लेकिन गृहस्थ श्रावक ससार मे रहता हे इसलिए वह यदि सूक्ष्म झूठ का त्याग करता हे तो उसे ससार मे अनक असुविधाआ का सामना करना पडता हे। इसलिए श्रावक को शास्त्रीय दृष्टि क सूक्ष्म–झूठ का त्याग न बतला कर शास्त्रकारो ने उन्हे स्थूल झूठ त्यागन का ही उपदेश दिया हे।

कुछ लोगो का कथन हे कि श्रावको को सर्वथा झूठ न बोलने का ही उपदेश दना चाहिए। सूक्ष्म स्थूल क भेद को न समझाना चाहिए क्योकि [illegible] से सूक्ष्म–झूठ का अनुमोदन होता हे। लेकिन ऐसा कहने वाले लोग [illegible] शास्त्र के रहस्यो से अनभिज्ञ हे। उन्हे जैन–शास्त्र के अगाध विचारो का [illegible] है। जैन–शास्त्र ऐसी किसी बात का निषेध नही [illegible] होता हो। ऐसी अवस्था मे [illegible] सत्य का [illegible] [illegible]

हो ही जाता है, इसलिए बुद्धिमान् लोग झूठ के भेद न बताने की बात का समर्थन नही कर सकते।

श्रावक के लिए इस स्थूल–मृषावाद–विरमण–व्रत का धारण करना उचित और आवश्यक है। इस व्रत के धारण करने पर सासारिक कार्यो मे किसी पकार की बाधा नही हो सकती बल्कि सासारिक मार्ग सरल हो जाता है। इस व्रत के पालने वालो का लोग विश्वास करने लगते हैं तथा इस व्रत के धारण करने पर झूठ बोलने के पाप से भी बहुत अश मे बच जाते है।

सत्य से क्या लाभ है और झूठ से क्या हानि है, यह तो पहिले बहुत कुछ समझाया जा चुका है। अब भी यदि कोई यह कहे कि हमारा सासारिक कार्य झूठ के बिना केवल सत्य से नही चल सकता, तो वह उसका भ्रम है। सत्य से काम नही चल सकता, झूठ से ही काम चलता है, यह सर्वथा गलतफहमी है। पहिले तो ससार मे सभवत कुछ लोग ऐसे भी मिलेगे जो अपना काम सत्य से चलाते हैं, झूठ को पास भी नही आने देते। दूसरे यदि सत्य से काम नही चल सकता तो झूठ ही झूठ से भी नही चल सकता। कोई मनुष्य आजन्म झूठ न बोलने की प्रतिज्ञा कर ले तो उसके कार्यो मे बाधा न होते हुए वह निर्विघ्न अपनी पतिज्ञा पर दृढ रह सकता है परन्तु यदि कोई सत्य न बोलने की पतिज्ञा करे, तो उसका कार्य कुछ घण्टे तक भी नही चल सकता। उदाहरणार्थ लगी तो है भूख, परन्तु कहे, कि मेरा पेट भरा है, तो वह कब तक जीवित रह सकेगा? पेट दु ख रहा है और पैर का दर्द बतावे तो अन्त मे उसे सत्य बोलने के लिए बाध्य होना ही होगा। साराश यह है कि सत्य बोलने से किसी काम मे बाधा नही आ सकती, बल्कि सत्य न बोलने से बाधा सभव है।

जो भारतवर्ष किसी समय सत्य के लिए प्रसिद्ध था वही इस समय झूठ के लिए पसिद्ध सुना जाता है। पाश्चात्य देश वाले जब वे बहुत वर्ष पूर्व भारत की यात्रा करने आये थे, तब उन्होने अपने यात्रा–वृत्तान्त मे लिखा है कि "भारत के लोग भूल कर भी झूठ का प्रयोग नही करते और पराई वस्तु को मिट्टी के समान मानते है अर्थात् छूते तक नही। यही कारण है कि भारत के लोग अपने घरो मे ताले नही लगाते।" आज उसी देश के लोग अपने भारत यात्रा–वृत्तान्त मे लिखते है कि "भारत के लोग झूठ बोलने मे तनिक भी नही हिचकिचाते और नैतिक–जीवन मे बहुत गिरे हुए है।" यद्यपि यह बात सर्वांश मे सत्य नही है क्योकि भारत मे आज भी कई ऐसे–ऐसे महानुभाव है जो कदापि झूठ नही बोलते लेकिन पूर्वकाल मे जितने सत्यवादी थे उतने इस

काल मे दिखाई नही देते, इसी से ऐसा कहने का मौका मिलता हे। भारतीयो को अपना यह कलक मिटा देना उचित है।

यदि मनुष्य झूठ को त्याग दे और सत्य को अपना ले, तो आज आये दिन अदालत की सीढियो पर उन्हे प्राय नित्य चक्कर काटना होता हे, जिन वकीलो का घर अपनी गाढी कमाई के पैसे से भरना होता हे, उनकी खुशामद करनी होती है और अनेक कष्टो का सामना करना होता है, उन सब से बच जाय। सत्य के न होने से ही वकील, वैरिस्टर और अदालतो का काम चल रहा है। यदि सब लोग सत्य को अपना ध्येय बना ले तो अदालतो और वकील, वेरिस्टर आदि को, जो इसी कमाई पर आनन्द उडाया करते हैं, इन्हे दूसरे उद्योग करने पडे अर्थात् उनका काम बन्द हो जाये। यद्यपि वकीलो का काम सत्य के अनुसधान मे न्यायाधीश को सहायता देने का है, परन्तु आजकल के वहुत से वकील झूठ को सत्य बनाने मे ही अपना गौरव समझते हैं।

सत्य के बिना, किसी मनुष्य का उत्थान नही हो सकता। सत्य और प्रिय–वचन, वाणी का तप कहलाता है। गीता मे कहा है –

'अनुद्वेगकर वाक्य, सत्य प्रियहित च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसन चैव वाङ्मय तप उच्यते।।'

– अध्याय 17

जा सुनने वाले के मन मे उद्वेग करने वाला न हो, सत्य और प्रिय हा स्वाध्याय का अभ्यासी हो, वह भाषण वाणी का तप है।'

गीता म जो वात कही हे, वही उत्तराध्ययन सूत्र मे निम्न प्रकार से कही हे –

कोहे माणे य मायाए य, लोभे य उवउत्तया।
हासे भय मोहरिए, विकहासु तहेव य।।
एयाइ अट्ठ ठाणाइ, परिवज्जितु सजओ।
असावज्ज मिय काले, भास भासिज्ज पन्नव।।

क्रोध मान माया लाभ हास्य भय वाचालता ओर विकथा का छाड कर बुद्धिमान का समय पर थाडी आर ऐसी निर्दोष वाणी का प्रयाग करना [illegible] जिससे किसी का कष्ट न हा।

[illegible] कि सत्य भी प्रिय हा। किसी का दुख देने वाले [illegible] निन्दा करते हुए उसे त्याज्य बताया हे। चाणक्य ने [illegible] –

[illegible] कटुका च वाणी दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
[illegible] कुलहीनसेवा चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्।।

[illegible]

अत्यन्त क्रोध, कटु–वचन, अपने जनो से वैर, नीचे का सग और कुलहीन की सेवा, ये चिह्न नरकवासियो की देह मे रहते हैं और कहा है –

'परस्परस्य मर्माणि, ये भाषन्ते नराधमा ।
त एव विलय यान्ति वल्मीकोदर सर्पवत्।।'

'जो नराधम परस्पर अन्तरात्मा को दु खदायक वचन भाषण करते हैं, वे विमौटे मे पड कर साप की तरह निश्चय ही नष्ट हो जाते है।

मनु ने अपनी स्मृति मे कहा है –

सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम।

सत्य कहे और प्रिय कहे, अपिय सत्य भी न कहे।' अप्रिय वचन की इस प्रकार सब धर्म के शास्त्रो ने निन्दा की है। और सत्य होते हुए भी उस सत्य को जिससे किसी को दु ख हो, झूठ ही के समान माना है। इसके विपरीत प्रिय वचन की प्रशसा मे चाणक्य ने कहा है –

'पृथिव्या त्रीणि रत्नानि, जलमन्न सुभाषितम्।
मूढै पाषाण–खण्डेषु, रत्नसज्ञा विधीयते।।'

'पृथ्वी पर तीन ही रत्न है – जल, अन्न और प्रिय वचन।' किन्तु मूर्खो ने पाषाण के टुकडे को रत्न सज्ञा दे रखी है।

'प्रियवाक्य प्रदानेन, सर्वे तुष्यन्ति जन्तव ।
तस्मात्तदेव वक्तव्य, वचने का दरिद्रता।।'

मधुर वचन के बोलने से सब जीव सन्तुष्ट होते हैं। इस कारण उसी का बोलना योग्य है। वचनो मे कुछ खर्च तो होता ही नही है फिर इसमे दरिदता क्यो ?

इस कथन का तात्पर्य यह नही है कि किसी को प्रसन्न करने के लिए झूठमूठ ही उसकी प्रशसा की जाय अथवा और कोई बात खुश करने को कही या सुनाई जाय। झूठ की गणना तो सदैव झूठ मे ही होती है। शास्त्र ने अप्रिय सत्य को त्याज्य तो अवश्य कहा है किन्तु प्रिय झूठ को ग्राह्य नही कहा है।

इन सब बातो पर विचार करके श्रावक को इस दूसरे स्थूल मृषावाद–विरमणव्रत को धारण करना उचित ही है। इस एक व्रत के धारण करने से श्रावक अनेक पापो और दुर्व्यसनो से छूट सकता है। इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक धनी युवक कुसगति मे पड कर अनेक दुर्व्यसनो का शिकार हो गया। शराब पीना वेश्यागमन आदि अनेक दोष उसमे थे। जब उसके माता–पिता समझाकर हार गये तो वे उस युवक को लेकर एक महात्मा की

शरण मे गये। महात्मा ने बडे प्यार से समझाकर उस युवक से कहा कि मेरे कहने से केवल एक बात छोड दे और वह यह कि झूठ मत बोला कर। युवक ने देखा कि इसमे कोई हर्ज नही है। इस बात को मान लेने से अपने कार्यो मे तो किसी प्रकार की बाधा न होगी। यह विचार कर उसने झूठ न बोलने की प्रतिज्ञा ले ली।

स्वभावानुसार वह शराब पीने चला, परन्तु तत्काल ही उसे विचार हुआ कि यदि मुझ से कोई पूछेगा 'तुम कहा गये थे ?' तब मैं क्या उत्तर दूगा? झूठ न बोलने की तो प्रतिज्ञा कर ही चुका था, इसलिए शराब पीने नही गया और बैठा रहा। इसी प्रकार प्रतिज्ञा के भय से उसके सब दुर्व्यसन छूट गये और वह शुद्ध हो गया।

स्थूल झूठ के भेद

पाणियो के हितचिन्तक शास्त्रकारो ने श्रावक के त्याग करने योग्य स्थूल झूठ के भेद भी बतला दिये है, जिससे श्रावक लोग इस झूठ पर विशेष रूप से ध्यान रख सके क्योकि ससार मे विशेषत इन्ही कारणो से झूठ बोला जाता है। शास्त्र मे कहा है –

'थूलगँ मुसावाय समणोवासओ पच्चक्खाइ से
य मुसावाए पचविहे पन्नते, त जहा कन्नालीए गवा–
लीए भोमालीए नासावहारे कूड सक्किखज्जे।।'

अर्थात्–श्रमणोपासक स्थूल–झूठ का त्याग करे। वे स्थूल झूठ पाच प्रकार के है –कन्या के विषय मे गौ के विषय मे, भूमि के विषय मे धरोहर रक्खी हुई वस्तु के विषय मे और झूठी साक्षी देने के विषय मे।

इस पाच प्रकार के स्थूल–झूठ के विषय मे पृथक्–पृथक् व्याख्या की जाती है।

1–कन्नालिए अर्थात् कन्या के विषय मे झूठ

यहा शका हो सकती हे कि कन्या ही के लिए झूठ बोलने का निषेध क्यो किया ? क्या पुरुष, बालक या स्त्री के विषय मे झूठ बोलना त्याज्य नही है ? ऐसी शका करने वाले के लिए ही टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि –

'तेन सर्वमनुष्य जाति विषय मलीक मुपलक्षितम्।'

अर्थात्–कन्या का नाम लेकर मनुष्य मात्र के लिए झूठ न बोलने को कहा गया है।

यहा कन्या के विषय मे जो झूठ बोलने का निषेध है उससे उपलक्षण से मनुष्य जाति के विषय मे झूठ बोलने का निषेध समझना चाहिए। मनुष्यमात्र के लिए झूठ न बोलने का त्याग न लिख कर कन्या के ही लिए क्या लिखा

है कि एक तो कन्या के विषय मे झूठ बोलना ससार मे सब से अधिक निन्द्य समझा जाता है, दूसरे कन्या से ही मनुष्य की उत्पत्ति है। जब जड के विषय मे झूठ बोलने का त्याग होगा, तब शाखा पल्लव आदि के विषय मे झूठ बोलने का त्याग अपने आप ही हो जायेगा। इसलिए कन्या के विषय मे झूठ का त्याग करना है। कन्या के विषय मे झूठ का त्याग करने का अर्थ यह नही है कि अन्य मनुष्य के विषय मे झूठ बोला जाय, वरन् यह अर्थ है कि कन्या के साथ ही मनुष्य–मात्र के विषय मे झूठ बोलने का त्याग है।

मनुष्यो मे कन्या को प्रधान माना गया है। पाश्चात्य देशो मे भी यह नियम है कि जहाज के तूफान आदि सकट–जनक स्थिति मे होने पर पहले कन्याओ की, पश्चात् बालको की, स्त्रियो की, और फिर पुरुषो की रक्षा का क्रमश ध्यान रखा जाता है। इसका कारण यही है कि कन्या पुरुष–रतन की खान ओर भावी सतान की माता है।

विपत्ति मे फसे हुए जहाज से कन्या का उद्धार पहिले करने का अर्थ यह नही हे कि अन्य पुरुषो की रक्षा ही न की जाय। इसी तरह यहा कन्नालिए का अर्थ यह नही है कि केवल कन्या ही के विषय मे झूठ न बोला जाय। सकटापन्न जहाज से जैसे कन्या को आदि लेकर सब मनुष्यो की रक्षा की जाती हे, एसे ही कन्या को आदि लेकर मनुष्य–मात्र के विषय मे झूठ का त्याग करना एसी शास्त्राज्ञा हे।

जा मनुष्य कन्या के विषय मे झूठ बोलता हे वह मातृ–पक्ष का घार विराध करता हे। इस महापाप से बचने के लिए ही शास्त्र मे कन्या का विशेष रूप स उल्लख करते हुए कहा कि द्रव्य, क्षेत्र, काल ओर भाव की अपेक्षा रो कन्या क लिए झूठ न वाल। जो इस प्रकार हे –

द्रव्य स तात्पर्य यह हे कि कन्या रूपवती हो सुन्दर हो अग–उपाग म किसी प्रकार का दाप न हो उच्च वर्ग की हा परन्तु स्वार्थवश या ओर किसी कारण स उरा कुरूपा अगहीना आदि वास्तव म जा हे उराक सर्वथा [illegible] विपरीत बतला दना या कन्या म किरी प्रकार का उक्त दाप

इसी तरह कन्या के लिए वर के विषय मे भी उक्त प्रकार का उलट–फेर करना, कन्या के लिए झूठ बोलना है। जैसे वर बूढा, कुरूप, मूर्ख और किसी अन्य देश का है, लेकिन उसे युवक, सुन्दर और विद्वान बतलाना। इसी तरह सभी मनुष्यो के विषय मे समझ लेना।

साराश यह है कि जो बात कन्या से सम्बन्ध रखती है, उसमे किसी पकार का किसी कारण से अयथार्थ भाषण करना, कन्या के विषय मे झूठ बोलना कहलाता है।

आज समाज मे जो विषमता है, उसके कारणो मे से एक कारण कन्या के लिए झूठ बोलना भी है। विशेषत इसी कारण विधवाओ की इतनी सख्या बढ रही है और दम्पती मे असन्तुष्टता रहती है। समाज द्वारा कन्या पर और क्या–क्या अत्याचार होते है। यह एक स्वतन्त्र विषय है, जिसे यहा पर कहना अप्रासगिक होगा।

सम्भवत अब यह प्रश्न होगा कि – अगहीन, कुरूपा आदि सदोष कन्या कुआरी तो रह नही सकती, ऐसी अवस्था मे बिना झूठ बोले काम कैसे चले ? अर्थात् किसी प्रकार झूठ बोल कर भी उसका विवाह तो करना ही पडता है। लेकिन ऐसी शका करने वाले लोग भ्रम मे पडे हुए है। ससार मे कन्या ही अगहीन आदि दोषयुक्त नही होती। बल्कि पुरुष भी होते हैं। जब कन्या कुआरी नही रह सकती तो क्या ऐसा पुरुष यह नही कह सकता कि "मै कुआरा क्यो रहू ?" ऐसी अवस्था मे उचित तो यह है कि सत्यमार्ग का अवलम्बन लेकर झूठ के पाप से बचे।

2 गवालिए अर्थात् गौ के विषय मे झूठ

गौ के विषय मे झूठ न बोलने के लिए भी कन्या की ही तरह यह प्रश्न होता है कि क्या गौ के सिवाय अन्य पशुओ के विषय मे झूठ बोलना मना नही है? इस प्रश्न का उत्तर भी वही है, जो कन्या के विषय मे दिया गया है अर्थात् जिस प्रकार मनुष्यो मे कन्या उत्तम है, उसी तरह पशुओ मे गो प्रधान मानी गई है। गौ के विषय मे झूठ बोलने का त्याग, सब पशुओ के विषय मे झूठ बोलने का त्याग समझना चाहिये।

गौ पशुओ मे सर्वोत्तम इसलिए मानी गई है, क्योंकि मनुष्यो के लिए गो ही विशेष रूप से आधार है। गाय की सहायता के बिना गृहस्थी नही निभ सकती। सूखे तृण खाकर बदले मे घी दूध आदि देने वाला गा के सिवाय

जैसे हल खीचने के लिए बछडे देना, खाद के लिए गोबर देना आदि। जैन समाज या भारतवर्ष मे ही गौ को सब पशुओ मे प्रधान माना है, ऐसा नही बल्कि यूरोपियनो ने भी गौ की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। आनन्द और कामदेव ऐसे उत्कृष्ट श्रावक, गोओ को इन्ही कारणो से पालते थे और श्रीकृष्ण ने भी इन्ही बातो को सिद्ध करने के लिए गोए चराई थी कि ससार मे ऋद्धि–सिद्धि की दाता गौ ही है। गौ की महत्ता बताना, यह भी एक स्वतन्त्र विषय है, इसलिए यहा इतना ही कथन पर्याप्त है।

साराश यह है कि गौ सर्वोत्कृष्ट पशु है। इसलिये इसे आदि लेकर सब पशुओ के लिए झूठ न बोलने का शास्त्र का उपदेश है।

कन्या के समान गौ के लिए भी द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव मे त्याग करना आवश्यक है। जैसे अच्छी या बुरी गाय को बुरी या अच्छी बताना, कम या ज्यादा दूध देने वाली गाय को ज्यादा या कम दूध देने वाली बताना या चिट्ठी मारने वाली गाय को मारने वाली या सीधी बताना आदि।

3 भोमालिए अर्थात् भूमि के विषय मे झूठ

भूमि विषयक झूठ के त्याग मे भूमि के साथ ही उन सब वस्तुओं के विषय म झूठ बोलने का त्याग आ जाता है, जिनकी उत्पत्ति भूमि से है। फिर चाह वे सचतन हा या अचेतन। जेसे फल, वृक्ष आदि सचेतन ओर प्राय सोना चादी, पत्थर मिट्टी घर आदि अचेतन। इसीलिये भूमि के साथ ही, भूमि स उत्पन्न हान वाली ओर उससे बनी हुई वस्तु मकान नोहरा महलादि सम्बन्धी झूठ का भी त्याग समझना चाहिए। क्योकि भूमि आधार हे ओर उस पर क या उससे उत्पन्न हान वाले पदार्थ आधेय हैं। आधार को ग्रहण करन स आधेय का भी ग्रहण स्वयमेव हा जाता हे।

इनमे भी कन्या ओर गो विषयक झूठ–त्याग क समान द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विचार से त्याग करना आवश्यक हे।

4 नासावहार अर्थात धरोहर के विषय मे झूठ

"यो निक्षेप नार्पयति, यश्चानिक्षिप्य याचते।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्सम दमम्।।

जो रखी हुई धरोहर को न देवे और जो बिना रखे ही मागे, वे दोनो चोर के समान ही दण्डनीय है।

लेकिन जैन शास्त्रो मे, यह कार्य मुख्यतया झूठ बोलने से ही होता है, इस कारण इसे झूठ मे माना है। गौण रूप मे यह चोरी भी है।

इसमे भी पूर्व वर्णनाके अनुसार द्रव्य, क्षेत्र आदि के विचार से त्याग करना आवश्यक है।

5 कूडसक्खिजे अर्थात् झूठी साक्षी

किसी दूसरे के या अपने लाभ के लिए अथवा दूसरे की हानि के लिए न्यायाधीश, पचायत, सघ आदि के सन्मुख जो मिथ्या–भाषण किया जाता है। वह मिथ्या भाषण, झूठी साक्षी कहलाता है। झूठी साक्षी देना निन्द्य कार्य है और घोर पाप है। मनु ने झूठी साक्षी देने वाले के विषय मे कहा है–

"वाच्यार्था निहता सर्वे, वाङ् मूला वाग्विनि सृता ।
तास्तु य स्तेन येद्वाच्य स सर्व स्तेयकृन्नर ।।"

शब्दो ही मे वाच्य, भाव से नियत है और शब्दो का मूल वाणी है, क्योकि सब बाते शब्दो से ही जान कर की जाती है। जो वाणी को चुराता है अर्थात् अन्यथा कहता है, वह सब भाति की चोरी करने वाला होता है।

"ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका, ये च स्त्री बाल घातिन ।
मित्रद्रुह कृतघ्नस्य, ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा।।"

ब्राह्मण स्त्री और बालक की हत्या करने वाले को मित्रदोही तथा कृतघ्नी को जो लोक मिलते है वे ही लोक झूठी गवाही देने वाले को मिलते है। यहा लोक शब्द से मतलब है गति का।

तात्पर्य यह है कि झूठी साक्षी देना मनु ने भी महान पाप माना है।

जिस मनुष्य पर जनता विश्वास करती है, वह यदि किसी के सच्चे सोने को नकली बतलावे अथवा किसी के नकली सोने को सच्चा बता कर खरीदवावे तो शास्त्र कहता है कि ऐसा करने वाला सोने के वर्तमान और भावी स्वामी को अन्तराय (दुःख) देने का अपराधी है। क्योकि ऐसा होने पर उस असली सोने के स्वामी तथा नकली सोने के खरीददार की आत्मा को बड़ी चोट पहुंचती है। और वे या तो उस ऐसा बताने वाले की हानि [illegible] [illegible] स्वयं [illegible] लगने से मर जाते है। इसका [illegible]

प्रकार झूठ बताने वाला अपनी प्रामाणिकता को भी तिलाजलि देता है। इसके विपरीत यथार्थ बात कहने पर न तो प्रामाणिकता को ही धक्का लगता है और न उपरोक्त दोष की ही सम्भावना रहती है। बल्कि उसकी प्रामाणिकता बढ जाती है। यही बात झूठी साक्षी देने के विषय मे भी है।

झूठी साक्षी मे भी द्रव्य, क्षेत्र आदि के विचार से त्याग करना आवश्यक है।

यद्यपि धरोहर के विषय मे झूठ और झूठी साक्षी, पहिले तीन प्रकार (कन्नालिए, गवालिए, भोमालिए) के झूठ के अन्तर्गत आ जाते हैं, लेकिन इसे विशेष निंद्य समझ कर शास्त्रकारो ने इनका वर्णन पृथक्–पृथक् किया है। श्रावक को, वर्णन किये हुए इन पाचो प्रकार के स्थूल मृषावाद को समझ कर इनका त्याग करना और स्थूल–मृषावाद–विरमण–व्रत को धारण करना उचित है। इस दूसरे व्रत के अतिचारो का वर्णन आगे किया जाता है।

सत्य व्रत के अतिचार

श्रावक के स्थूल–मृषावाद–विरमण–व्रत के पाच अतिचार हैं। आवश्यक सूत्र मे श्रावक को स्थूल मृषावाद का त्याग बतलाने के साथ ही कहा है –

"थूलग मुसावाय वेरमणस्स समणोवासएण इमे पच अड्यारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। तजहा सहस्सब्भक्खाणे रहस्सब्भक्खाणे सदार मतभेए मोसुवएसे कूड लेहकरणे।"

"स्थूल–मृषावाद–विरमण–व्रत– जिसको श्रावक के लिए धारण करने का विधान है, उसके पाच अतिचार है। इन पाचो के नाम (1) सहस्सब्भक्खाणे, (2) रहस्सब्भक्खाणे (3) सदार मतभेए (4) मोसुवएसे, (5) कूड लेहकरणे है। ये अतिचार श्रावक के जानने योग्य है, लेकिन आचरण करने योग्य नही है। इसीलिए श्रावक को इनसे बचना उचित है।"

शास्त्रकार ने किसी त्याज्य कार्य के करने का विचार लाने को अतिक्रम कार्य–पूर्ति के लिए साधन एकत्रित करने को व्यतिक्रम कार्य की बिल्कुल तैयारी हो लेकिन अभी किया नही है उसे अतिचार ओर पूर्ण कर डालने को अनाचार कहा है। अर्थात् व्रत के उल्लघन करने की चार कक्षाए है। उल्लघन का प्रारम्भ अतिक्रम से होता है और अन्त अनाचार की शक्ल मे होता है। यथा–कोई मनुष्य असत्य बोलने के लिए उद्यत हुआ। उसका जैसे ही असत्य बोलने का विचार हुआ अतिक्रम हो गया यानि उसने व्रत की पहली मर्यादा को तोड डाला। अर्थात किसी व्रत को भग करने का सकल्प का नाम अतिक्रम है। पश्चात सकल्प को पूरा करने का जब प्रयत्न करता है यानि झूठ बोलने के साधन जुटाता है उसका नाम व्यतिक्रम है। ऐसा करना व्रत की दूसरी मर्यादा का उल्लघन करना है। फिर व्रत की अपेक्षा रखता हुआ कुछ अश मे व्रत का नाश करता है उसका नाम अतिचार है।

शास्त्र मे जहा भी अतिचार का उल्लेख हे वहा सब जगह व्रत की तीसरी मर्यादा का अर्थात् मध्यम श्रेणी का उपदेश किया है। लेकिन व्रत की अपेक्षा न करके सकल्प–रूप भग किया जाय तो वह अनाचार हो जाता है।

इस दूसरे व्रत के ऊपर वर्णित किये हुए पाच अतिचार हैं, जिनके विषय मे पृथक्–पृथक् व्याख्या की जाती है।

सहस्सब्भक्खाणे

बिना विचार किये एकदम किसी को मिथ्या दोष लगा देना, जैसे तू चोर है या तू जार है इत्यादि। यह पहला सहसा अभ्याख्यान नाम का अतिचार है।

इस अतिचार के विषय मे जितनी भी व्याख्या की जाय, कम हे, क्योकि आजकल बिना विचारे एकदम किसी पर दोषारोपण कर देना सहज प्रकृत्ति बन गयी हे। दोष की सत्यता पर विचार किये बिना ही किसी पर दोष लगा दना अत्यन्त अनुचित है। लोग यदि इस अतिचार का अर्थ भलीभाति समझ ले तो यह दुर्गुण दिखाई न दे। अब भी यदि इस पर विचार किया जाय ता यह दोष मिट सकता है।

आज के लोग ओर किसी बात मे तो चाहे निरकुश न रहते हो, परतु जीभ पर अकुश रखने का प्रयत्न तो शायद ही करते होगे। सभवत इसी कारण किसी से कोई दोष हुआ हो या न हुआ हो उस पर सहसा दोषारोपण कर दिया जाता हे। उचित तो यह हे कि यदि किसी मे कोई दुर्गुण दिखाई भी पड तो नम्रता–पूर्वक उसे सूचित करके भविष्य के लिए सावधान कर दिया जाय। लकिन इसके विपरीत दूसरा के दोषो का ढिढोरा पीटने मे प्राय लाग अपना गारव समझत हे। आज इस दुर्गुण की सहायता के लिए साधन भी खूब मिल जात ह। दो पेसे के कार्ड या समाचार–पत्र द्वारा किसी के छाए

पचायतो के लिए ही नही किन्तु घर के लोगो के लिए भी यह सुनाई पडता है कि प्राय घर के ही लोग एक दूसरे को झूठे दोष लगाकर नीचा दिखाने का उपाय किया करते रहते है। यह कितना नीच कार्य है।

व्रतधारी श्रावको को इस अतिचार से अवश्य ही बचना चाहिये। सब ससार ही ऐसा करता है, यह विचारना उचित नही है। ससार चाहे सुधरे या न सुधरे, आप अपने कर्त्तव्य का पालने करते जाइये। जिस प्रकार जूता पहिनने वाला मनुष्य पृथ्वी पर काटे का अस्तित्त्व देखना अनावश्यक समझता है, इसी प्रकार आप भी विचार लीजिये कि मैंने व्रत ग्रहण किया है। इसलिए लोग चाहे ख्याल रखे या न रखे, मुझे तो ख्याल रख कर इस दोष से बचना ही चाहिये। अर्थात बिना सोचे–समझे अन्य लोगो की तरह किसी के सिर एकदम दोष न मढ देना चाहिये।

तलवार का घाव अच्छा हो सकता है, लेकिन झूठे कलक का भयकर घाव उपाय करने पर भी अच्छा होना कठिन हो जाता है। इसलिए किसी को झूठा कलक लगाने का घृणित कार्य कभी न करना चाहिये।

रहस्सब्भक्खाणे

एकान्त मे बैठे किसी विषय का विचार करते हुए मनुष्यो को देखकर उनकी बात के विषय मे असत्य अनुमान बाध कर कहना कि ये राज्य विरोधादि विषय की बातचीत करते होगे, 'रहस्सब्भक्खाणे' है।

आज की जनता मे उक्त दोष बहुत देखा जाता है। कोई स्त्री–पुरुष चाहे वे आपस मे बहिन–भाई ही हो, यदि एकान्त मे बात करते हो तो लोग बिना विचार किये ही केवल बाते। करते देखकर उन पर सन्देह करने तथा वैसा लोगो के आगे प्रकट करने मे प्राय नही हिचकिचाते और उन पर कलक लगाने लगते है। लेकिन विचारशील मनुष्य को इस दुर्गुण से दूर रहना चाहिये।

इस दूसरे अतिचार और पहिले अतिचार मे यह अन्तर हे कि पहिले अतिचार मे एकदम दोषारोपण किया जाता है और इस दूसर अतिचार मे किसी प्रकार का सन्देह पाकर दोषारोपण किया जाता है।

सन्देह के आधार पर कलक लगाने का दोष पुरुष की अपेक्षा स्त्रियो मे विशेष देखा जाता है। उनमे अधिकाश को कोई कार्य तो रहता नही इसलिए जरा सी बात को चाहे वह सत्य हो या झूठ विशेष समय तक घोटती–दोहराती रहती है।

व्रतधारी श्रावक को इस प्रकार किसी को एकान्त मे बात करते देख कर सन्देह लाना और दोष लगाना उचित नहीं हे।

सदारमन्तभेए

अपनी स्त्री ने जो कुछ मर्म–भरी बात कही हो, जिसे छिपाने की आवश्यकता है या स्वय ने उससे जो कुछ कहा हो, दूसरे के आगे उसका प्रकाश करना 'सदारमन्तभेए' कहा जाता हे। ऐसा करने से लज्जावश उस स्त्री का, अपनी या दूसरे की हत्या कर देना आदि अनर्थ–परम्परा का होना सम्भव है। इसलिये सत्य होने पर भी ऐसा करना अतिचार है।

आज के पुरुष स्त्रियो को कुछ समझते ही नही हैं, बल्कि यहा तक तुच्छ समझते हैं कि स्त्री को पैर की जूती कहने तक मे नही हिचकिचाते। इस कारण स्त्रियो से किसी प्रकार की सम्मति लेना तो दूर रहा, उनकी गोपनीय बातो को भी प्रकट करने मे कुछ विचार नही रखते। लेकिन ऐसा समझना पुरुषो की उद्दण्डता के सिवाय कुछ नही कहला सकता। स्त्रियो को इस दर्जे तक तुच्छ समझने वाला स्वय तुच्छ–बुद्धि का है। वह इस बात को नही विचारता है कि यदि स्त्री पेर की जूती है तो उससे हथलेवा जोडते समय मित्र के नाते जोडा या जूती मे जाते?

स्त्रियो को इस प्रकार समझ लेने से ही आज भारत के प्राचीन गोरव से लोग हाथ धो बैठे हैं। जिस समय भारत उन्नति की चरम सीमा पर पहुचा था, उस समय का इतिहास देखने से पता लग सकता हे कि स्त्रियों को कितनी ऊची दृष्टि से देखा जाता था और समाज मे उनका कितना ऊचा स्थान था। उसके बाद जेसे–जेसे पुरुष स्त्रियो का सन्मान कम करते गय वेसे–वेसे वे स्वय अपने सन्मान को भी नष्ट करते गये। राष्ट्र मे नवीन चेतन्य आना स्त्रियो की उन्नति पर निर्भर हे।

कई लोगो ने स्त्री–समाज को पगु समझ रखा हे या यो कहो कि पगु वना रखा हे। यही कारण हे कि यहा के सुधार–आन्दोलना म पूरी सफलता नहीं होती। यदि स्त्रियों को इस प्रकार तुच्छ न समझकर, उन्ह उन्नत वना दिया जाये तो जो सुधार–आन्दोलन आज अनेक प्रयत्न करने पर भी असफल रहते हैं, उन्हे असफल होने का सम्भवत कोई कारण ही न रहे।

स्त्रियो की शक्ति कम नही हे। जेन–शास्त्र मे वर्णन हे कि स्त्रिया की स्तुति स्वय इन्द्रा न की हे ओर उन्हे साक्षात् देवी कह कर त्रिलोक म उतम वतलाया है। त्रिलाकीनाथ का जन्म दन वाली माता स्त्री ही हे। भगवान

महावीर जैसे को उत्पन्न करने का सौभाग्य इन्ही को प्राप्त है। मनु ने भी कहा है।

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता ।।"

जहा पर स्त्रियो का सत्कार होता है, वहा देवता आकर रमण करते है अर्थात वह घर स्वर्ग बन जाता है।

जिन स्त्रियो का इतना महत्व है, उन्हे तुच्छ समझ कर अपमानित करने से पुरुष सुखी कैसे बन सकते हैं ? सुखी होना तो स्त्रियो की उन्नति और उनके सत्कार पर ही निर्भर है। चाणक्य ने कहा है –

"दाम्पत्य कलहो नास्ति तत्र श्री स्वयमागता।।"

जहा दम्पती (पति–पत्नी) मे कलह नही रहता है, यानि एक दूसरे को सन्मानपूर्ण दृष्टि से देखते है, अपमानित नही करते हैं, वहा लक्ष्मी आप ही आकर विराजमान होती है।

स्त्रियो की उच्चता और लज्जा को दृष्टि मे रखकर ही शास्त्रकारो ने उनकी किसी गोपनीय बात को दूसरे के सामने प्रकट करने से पुरुषो को मना किया है। इसके लिए चाणक्य ने भी अपनी नीति मे कहा है –

"अर्थनाश मनस्ताप, गृहिणीचरितानि च।
वञ्चन चापमान च मतिमान्न प्रकाशयेत्।।"

"धन का नाश मन का ताप (दु ख), गृहिणी का चरित्र यानि उनके विषय की बात, अपनी ठगाई की बात और स्व–अपमान की बात बुद्धिमान किसी के आगे प्रकट न करे।"

अपनी स्त्री के विषय की सच्ची गुप्त बात को भी प्रकट करना दूसरे व्रत का अतिचार है, इसलिए बुद्धिमान् इससे बचे।

इस अतिचार मे पुरुष को लक्ष्य करके स्त्रियो के विषय मे जो कुछ कहा गया है वे ही बाते स्त्रियो के विषय मे समझनी चाहिये और उन्हे इस अतिचार का नाम सभत्तार मतभेए समझना चाहिये। स्त्रियो का भी कर्त्तव्य हे कि वे पुरुष से जो कुछ गुप्त बात कहे या पुरुष उनसे जो गुप्त बात कहे उन बातो को किसी के आगे प्रकाशित न करे। ऐसा करने पर उनके लिए भी वही अतिचार हो जाता है।

मोसुवएसे

दूसरे को असत्य का उपदेश करना मृषोपदेश कहा जाता है। यदि अचानक असावधानी से मिथ्या उपदेश दे दिया जाय अथवा अपने पास

सम्मति पूछने के लिए आये हुए को मिथ्या उपदेश किया जाय, जेसे–मैंने अमुक समय पर इस प्रकार मिथ्या भाषण द्वारा अमुक कार्य किया था इत्यादि प्रकार से किसी को उपदेश किया जाय तो अतिचार है। यद्यपि ऐसा करने वाला चाहे मिथ्या–भाषण न कर रहा हो, तथापि वह दूसरे को मिथ्या–भाषण मे प्रवृत्त करता हे, अत यह अतिचार है।

आजकल के लोगो मे दूसरे को मिथ्या उपदेश देने की प्रवृत्ति ज्यादा नजर आती है। यदि स्पष्ट रीति से मिथ्या उपदेश न देगे तो बात को इस प्रकार घुमा–फिरा कर कहेगे कि सुनने वाले, व समीप रहे व्यक्ति के लिए वह उपदेश का कार्य करे। इस प्रकार उपदेश देने वाले के लिये सुनने वाला समझता है कि ये अनुभवी हैं ओर जो कुछ कह रहे हैं, वह मेरे हित के लिए है लेकिन यह उसका उपदेश भ्रम मात्र होता है। लोग इस बात को नही विचारते कि में जो कुछ कह रहा हू उसका प्रभाव सुनने वाले पर कैसा पडेगा ओर उसका परिणाम क्या होगा? उसका ध्येय तो कुछ और ही रहता है। जेसे एक आदमी ने दूसरे से कहा कि–'मेरा पेट दुखा करता है सिर दुखा करता हे या भोजन हजम नही होता।' सुनने वाले ने इसके उत्तर मे कहा कि– ऐसा ही हाल मेरा भी रहा करता था, लेकिन जब से मैंने बीडी, सिगरेट, गाजा या चाय पीना प्रारम्भ किया, तब से यह रोग चला गया।' यद्यपि ऐसा कहने वाले ने दुर्व्यसनो का स्पष्ट उपदेश नही दिया, तथापि उसके कहने का तात्पर्य यही है कि वह भी इन्हे पीये। यदि ऐसा करने वाला इन्हे पीने के लिए स्पष्ट कहता, तब तो इस उपदेश की गणना अतिचार मे न होकर अनाचार मे होती लेकिन उसने स्पष्ट नही कहा, इसलिये अतिचार हे।

यह बात तो इस अतिचार को समझाने मात्र के लिए कही गई हे। लोग ऐसा ही नही, बल्कि ऐसे–ऐसे मिथ्या उपदेश दिया करते हैं कि सुनने वाला महान अन्धकार मे जा गिरता हे वहा से उसे निकालना कठिन हो जाता है। जसे–किसी क "में गरीब हूॅ" यह कहने पर या कहने के पहले ही उसस इस बात का कहा जाना कि–मैं भी एसा ही गरीब था लकिन अमुक धर्म का छाड कर अमुक धर्म म चल जान स झूठ बालने से या जुआ खलन स मालदार हा गया। इस प्रकार के मिथ्या–उपदेश द्वारा अपनी संख्या बढान के लिए या और किसी कारण स उसे सत्य स दूर करके असत्य के गड्ढे में [illegible] दिया जाता है।

[illegible] के लिए भी बहुत लोग एसे ही उपदश दकर लोगो को [illegible] [illegible] में [illegible] रखना चाहते हैं। एसा करन वाले स्वार्थ–वश [illegible]

कृत्याकृत्य का भी विचार नही करते। लेकिन मिथ्या उपदेश का प्रभाव सदा नही रहता, कभी न कभी मिटता ही है। फिर जिसे भी यह मालूम हो जाता है कि इन उपदेशो से मुझे भ्रम मे डाला गया था, वह उसी क्षण से उस (इस पकार भ्रम मे डालने वाले) को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है।

ऐसा उपदेश, जो सत्य नही है और जिसके सुनने से सुनने वाला सत्य से पतित होता है, या बुरे कार्य मे प्रवृत्त होता है, 'मोसुवएसे' है। श्रावक को इस अतिचार से बचने के साथ ही ऐसे उपदेशको पर विश्वास करने से भी बचना चाहिए।

कडूलेहकरणे

जाली–लेख, किसी दूसरे के अक्षर सरीखे अक्षर, नकली मुद्रा, छाप, मुहर आदि बनाना, 'कूटलेखकरण है।

वे बाते, जिनकी गणना झूठ मे है, लेखन कला द्वारा कार्य रूप मे परिणित करना 'कूटलेखकरण' अर्थात् झूठालेख लिखना कहलाती है। झूठे दस्तावेज लिखना, समाचार पत्रो मे झूठी खबरे देना, खोटे सिक्के, नोट हुण्डी आदि की रचना करना आदि–आदि बाते यदि असावधानी से हो जाये तो अतिचार है, अन्यथा अनाचार है। मान लीजिए–किसी ने कहा कि अमुक बात ऐसी है यद्यपि उस बात के सत्य होने का विश्वास नही है, लेकिन इस प्रकार ऐसा कहने वाले के विश्वास पर उस झूठी बात को समाचार पत्र मे छपवा दिया जाय तो अतिचार है। किन्तु मालूम होते हुए भी उस असत्य बात का प्रचार–प्रसार किया है तो अनाचार है। इसी प्रकार दस्तावेज आदि के विषय मे भी समझना चाहिए।

आजकल झूठे लेख लिखना, झूठा दस्तावेज बनाना, झूठे सिक्के आदि बनाना विशेष सुनाई देता है। यदि विचारा जाय तो इसका मूल कारण लोभ के सिवाय कुछ न होगा। लोभ के वश होकर ही लोग सत्यासत्य का विचार नही करते और इसी से ऐसा करने मे नही हिचकिचाते। जाली दस्तावेज बना कर एक के दो या और ज्यादा लिख–लिख कर गरीबो के गले काटने को ही बहुधा आजकल के लोगो ने व्यापार मान रखा है। ऐसा करनेवाले इस बात को नही विचारते कि इस तरह से द्रव्योपार्जन करके हम कितने दिन आनन्द उडा सकते है? और ऐसा आनन्द उडाने का परिणाम क्या होगा? ऐसा करने से ससार मे तो अपकीर्ति होती ही है लेकिन उस लोक मे भी जहा कि अन्त समय तक सबको जाना पडता है, सुख प्राप्त नही होता

किन्तु भयकर कष्ट प्राप्त होना स्वाभाविक है। ऐसे भाइयो को यह ध्यान मे रखना चाहिए कि सत्य के व्यापार से यदि लाभ कम भी हुआ तो वह उतना ही लाभ सासारिक कार्य के चलाने के लिए पर्याप्त होने के साथ ही इस लोक और परलोक दोनो जगह सुखदाता होगा, लेकिन असत्य के व्यापार का ज्यादा लाभ भी दोनो ही जगह दु खप्रद सिद्ध होगा।

किसी के विरुद्ध समाचार–पत्रो मे झूठे लेख लिखने, हैण्डबिल छपवाने आदि का तो आजकल फैशन सा हो गया है। प्राय लोग इसी मे अपनी विद्वत्ता समझने लगे हैं। ऐसा करने वाले इस बात को बिल्कुल भूल जाते हैं कि इस असत्य कार्य का उस लोक मे क्या परिणाम होगा ? उस लोक को भूलने के साथ ही उन्हे यह भी ध्यान नही रहता है कि हमारे इस झूठ के खुलने पर इस लोक मे भी कैसे निन्द्य समझे जाएगे और लोगो का हम पर कितना अविश्वास हो जायेगा?

इस अतिचार को बताने का तात्पर्य यह है कि उस लेखन–कार्य से जो झूठ की परिभाषा मे आता हो–बचा जाय। किसी असत्य कार्य को असावधानी या झूठ से कर डालने मे भी अतिचार है। अतएव प्रत्येक कार्य मे सावधानी रखने की आवश्यकता है।

उपसंहार

केवल श्रावको का ही नही मनुष्य–मात्र का कर्त्तव्य है कि वह मन, वचन और काया से सत्य का पालन करे। पशुओ मे भी सत्य चर्तमान है फिर मनुष्य–समाज सत्य से वचित रहे, यह कितना बुरा है। इसलिए मनुष्य–मात्र को सत्य का पालन करना उचित है।

श्रावको के लिए इस व्रत को धारण करना अत्यावश्यक है। इस व्रत को धारण करने से वे झूठ के भयकर पाप से बचे रह सकते हैं। बिना सत्य को अपनाये धर्म का पालन उचित रूप से नही हो सकता।

स्थूल–झूठ के जो विभाग बतलाये हें वे श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। इन विभागो के बताने का तात्पर्य यह है कि गृहस्थी मे प्राय इन्ही कारणो से झूठ बोला जाता है। इनका त्याग करने पर स्थूल–झूठ मात्र त्याग हो जाता हे और लोकिक व्यवहार मे वह किसी प्रकार का असत्याचारी नही रहता।

अतिचारो का उल्लेख शास्त्रकारो ने इस अभिप्राय से किया है कि गृहस्थी मे इन बातो का कार्य विशेष पडता है ओर असावधानी या भूल से इन कार्यो का हो जाना सम्भव हे। इसलिए श्रावक को अपने व्रत मे सावधानी रखने के वास्ते ही अतिचारो का रूप बतलाया गया है। श्रावको को अतिचार–रहित व्रत पालन करने और अतिचार न हो जाय इस बात से सावधान रहने की आवश्यकता है। जिस प्रकार राज्य की सीमा होती है ऐसे ही व्रत की सीमा अतिचार हे। इन सीमाओ का उल्लघन करना व्रत का उल्लघन है। व्रत का पूर्ण रूप से पालन तभी समझा जाता हे, जब उसमे अतिचार न हो। यदि व्रत मे अतिचार का ध्यान न रखा गया तो व्रत अपूर्ण है।

इस दूसरे व्रत को अतिचार–रहित पालन करने से श्रावक अपने आपके लिए सुगति का आयुष्य बाधता हे क्योकि इस व्रत को पूर्ण रूप से

पालने पर श्रावक अन्य पापो से भी लगभग बच जाता है और पापो से बचना अपने आपको कुगति मे डालने से बचाना है। अत इस व्रत के पालने वालो का सदा कल्याण ही है।

ooo

सत्य भगवान् है इसलिए सत्य की आराधना करो। सत्य का आसरा लो। सत्य पर श्रद्धा रखो। सत्य का आचरण करो। मन से, वचन से और काया से सत्य की आराधना करो। सत्य–भाषण करने से निडर बन जाओगे। सत्य बोलने से अगर कोई प्राण ले ले तो भी परवाह मत करो।

कदाचित् तुम सोचो कि हमारी सत्य बात मानी नही जायेगी, लेकिन अगर कोई सत्य पर विश्वास नहीं करता तो तुम्हारी क्या हानि है ? तुम अपने सत्य पर अटल रहो। असत्य के भय से सत्य को त्याग कर असत्य का आसरा लेने की आवश्यकता नही है। तुम्हारी बात सत्य नही मानी जाएगी, यह विचार कर अगर भय किया तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हे सत्य पर पूर्ण विश्वास नही है। चिन्ता नही, अगर कोई तुम्हारे सत्य पर विश्वास नही करता। भले ही तुम्हारे सत्य की लोग निन्दा करे, खिल्ली उडावे या सत्य के कारण भयकर यातना पहुचावे परन्तु भय मत खाओ। अगर तुम भय खाते हो तो समझ लो कि तुम्हारे अन्तर के किसी न किसी कोने मे सत्य के प्रति अश्रद्धा का भाव विद्यमान है सत्य पर जिसे पूर्ण श्रद्धा है वह निडर है। संसार की कोई भी शक्ति उसे भयभीत नही कर सकती।

से इतना सबल बन जाता है कि विघ्न और बाधाए उसका पथ रोकने मे असमर्थ सिद्ध होती है। वह निर्भय सिह की भाति नि सकोच होकर अपने मार्ग पर अग्रसर होता चला जाता है।

ooo

मनुष्य को जब तक अनुभव नही हो जाता, तब तक उसकी समझ मे सत्य का महत्त्व नही आता। जब उसके सिर पर कोई ऐसी आपत्ति आ पडती है–जो असत्य का आश्रय लेने से उत्पन्न हुई हो तो तत्काल ही वह समझ जाता हे कि सत्य का क्या महत्त्व है ?

सत्य–मार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन भी है और फूलो के बिछौने पर चलने के समान सरल भी है। इसमे प्रकृति की भिन्नता का अन्तर है। ऐसे मनुष्य भी है, जो अकारण ही असत्य बोलते है और सत्य व्यवहार को तलवार की धार पर चलने के समान कठिन मानते हे। उनका विश्वास है कि सत्य व्यवहार करने वाला मनुष्य ससार मे जीवित ही नही रह सकता। दूसरे ऐसे भी मनुष्य हो चुके है, और है, जो असत्य–व्यवहार करने की अपेक्षा मृत्यु को श्रेष्ठ मानते हैं। सत्य–व्यवहार उनके लिए फूलो की सेज है। फिर उस मार्ग मे उन्हे चाहे कितने ही कष्ट हो, किन्तु वे उनकी परवाह किये बिना ही प्रसन्नता–पूर्वक अपने मार्ग पर चलते रहते हे।

ooo

सत्यवादी के ससर्ग से असत्यवादी के हृदय का परिवर्तन शीघ्र हो जाता है। सत्यव्रत के पालने वाले मनुष्यो मे ऐसी ही शक्ति होती है। उनके एक बार के सम्पर्क से ही पतित से पतित व्यक्ति भी अपना कल्याण–मार्ग देख लेता है। जिसने सत्य–व्रत का एक–देश ग्रहण कर लिया, वह भविष्य मे पूर्ण सत्यव्रती बन जाता हे।

सत्य का बडा ही महत्वपूर्ण और कल्याणकारक सिद्धान्त हे। इसके पालन करने वाले को तो सदेव आनन्द है ही, किन्तु जो व्यक्ति सत्य का पालन करने वाले व्यक्ति के सपर्क मे एक बार भी आ जाता हे और उसकी एक भी शिक्षा ग्रहण कर लेता हे तो वह भी भविष्य मे अपना कल्याण–मार्ग पा जाता हे।

अस्तेयव्रत

विषयारम्भ

पाच व्रतो मे से तीसरा व्रत 'अस्तेय' या अदत्तादान– विरमण है। अस्तेय या अदत्तादान–विरमण या स्तेय अदत्तादान के अभाव को कहते हैं। स्तेय या अदत्तादान का अर्थ है चोरी। चोरी से निवृत्ति के लिए जो व्रत धारण किया जाता है, उसे अदत्तादान–विरमण' या 'अस्तेय व्रत कहते हैं।

इस व्रत को धारण करने की आवश्यकता और इससे होने वाले लाभ बतान क पहिले, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस व्रत को धारण करने क लिए जिस चारी रो निवृत्त होना पडता है, उसका कुछ रूप बताया जाय अतएव राक्षेप मे पहिले इसी पर विचार कर ले।

मन वचन, काय द्वारा दूसरे के हको को स्वय हरण करना, दूसरे रा हरण करवाना या इराका अनुमोदन करना चोरी कहलाता हे। अर्थात् जिस पर अपना वास्तविक रीति से अधिकार नही फिर वह अधिकार चाहे रहा ही न हा या रहा हा लकिन त्याग दिया हो, उस पर विना उसके स्वामी की आज्ञा क अधिकार करन उस अपन काम म लेने ओर उससे लाभ उठान का चोरी कहत ह।

मन म दूसर क हका का हरण करन के सकल्प–विकल्प करना [illegible]सिक चारी ह। वचन द्वारा दूसर क हका का हरण करना या दूसर की [illegible] का छिपाना वाचिक चारी ह। इसी प्रकार जिन कार्यो का करन रा दूसर [illegible] आघात पहुचता ह दूसर क हका का जिन कार्यो द्वारा अपहरण [illegible] ह दूसर अपन हका रा वचित रहता है उन सब कार्यो की गणना [illegible]। इस प्रकार मन वचन आर काय क याग द्वारा दूसर क [illegible] हरण करक उनका उपभाग करना उनरा काम [illegible] चारी कहलाती ह।

[illegible]

मन, वचन, कायिक योगो द्वारा विशेषत द्रव्य क्षेत्र, काल व भाव की चोरी होती है। दव्य से तात्पर्य है वस्तु का, फिर वह वस्तु चाहे सजीव हो या निर्जीव। क्षेत्र का अर्थ है स्थान। जैसे घर, बाग, मार्ग आदि। काल का अर्थ है समय। जैसे शताब्दी वर्ष, महीना, दिन आदि। भाव का अर्थ है विचार और कार्य।

चोरी विशेषत दो प्रकार की होती है। एक तो वास्तविक मालिक की अनुपस्थिति मे या उसकी असावधानी मे। जैसे सेध लगा कर जेब काट कर, ताला खोल कर, चोरी करना आदि। दूसरी, वास्तविक मालिक की उपस्थिति या असावधानी मे भी। जैसे डाका डाल कर, मार्ग मे लूट कर चोरी करना आदि।

जिस वस्तु पर अपना अधिकार ही नही है, या जो वस्तु दूसरे के अधिकार की है उसे बिना उस वस्तु के स्वामी की आज्ञा और इच्छा के ग्रहण करना अपने उपभोग मे लेना और लाभ उठाना द्रव्य की चोरी है। फिर वह वस्तु सजीव–जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति आदि हो, या निर्जीव–जैसे सोना चादी, रत्न मकान वस्त्र आदि।

सेध लगा कर, जेब काट कर डाका डाल कर, मार्ग मे लूट कर, ठग कर, जाली नोट–हुण्डी बना कर, झूठा दस्तावेज बना कर, राज्य का महसूल–टेक्स चुरा कर ग्राहक से कपट द्वारा अधिक मुनाफा लेकर, पडी हुई चीज–फल, रुपया पैसा आदि दूसरे की मालिकी का जानते हुए उठा कर इत्यादि उपायो से दूसरे के हको का अपहरण करना और लाभ उठाना चोरी है। इसी प्रकार वस्तु मे सम्मिश्रण करना, एक वस्तु बता कर दूसरी देना या लेना कम देना ज्यादा लेना, घूस–रिश्वत देना–लेना भी चोरी है। ऐसे ही और भी कई उपायो से द्रव्य की चोरी होती है।

इस सभ्य कहलाने वाले युग मे केवल उन्ही उपायो से होने वाली चोरियो की गणना चोरी मे है, जिन उपायो से चोरी करने पर राज्य–नियमानुसार दण्डित हो सके। जिन उपायो से चोरी करने पर राज्य–नियमानुसार दण्डित नही हो सकता उनकी गणना चोरी मे नही की जाती। लेकिन शास्त्रानुसार उस कार्य बात, विचार की गणना भी चोरी मे है जिसके द्वारा दूसरे के हको का अपहरण किया जावे या उनसे अनुचित फायदा उठाया जावे। आज के कानून ने कुछ इने–गिने उपायो द्वारा दूसरे के हक–हरण को ही चोरी मे मान कर प्रकारान्तर से चोरी के दूसरे सब मार्ग खुले कर दिये है। इसलिये चोरी के वे सभी उपाय निकले है जिनके द्वारा चोरी करने वाले दूसरे के हको का अपहरण करने पर भी राज्य–नियम से दण्डित नही होते। सेध लगाने डाका

डालने, ठगने, जेब काटने आदि राज्य–नियम से दण्ड्य उपायो द्वारा चोरी करने वाले, चाहे दो पैसे की भी चीज चुरावे, तब भी वे चोर कहलाते हैं और राज्य–नियमानुसार दण्डित होते हैं, परन्तु सभ्य उपायो द्वारा चोरी करने वाले हजारो, लाखो और करोडो रुपयो की चोरी करके भी साहूकार ही बने रहते हैं और राज्य–दण्ड से बचे रहते हैं। ऐसे सभ्य–उपायो द्वारा चोरी करने वाले लोगो से जनता की जितनी हानि हो सकती है, उतनी हानि उन असभ्य उपायो द्वारा चोरी करने वाले लोगो से शायद ही होती हो, क्योकि असभ्य उपाय द्वारा चोरी करने वाले लोगो से जनता सावधान रहती है और उनसे अपने हको की रक्षा करने का उपाय भी करती है। परन्तु इन सभ्य उपायो द्वारा चोरी करने वाले प्रतिष्ठित 'शाह' नामधारी लोगो से जनता सावधान नहीं रहती। इस प्रकार उन असभ्य उपायो द्वारा चोरी करने वालो की अपेक्षा सभ्य उपायो द्वारा चोरी करने वाले कही अधिक भयकर हैं। इन सभ्य उपायो मे से कुछ चुने हुए उपाय नीचे दिये जाते हैं।

कई लोग व्यापार मे स्थिति का झूठा रोब जमा कर लोगो से माल लाते हैं, व्यवहार करते हैं और दूसरो का रुपया अपने यहा जमा रखते हैं। इस प्रकार दूसरो का धन खीच कर झूठा जमा–खर्च करके बाद मे अचानक ही दिवाला निकाल देते हैं।

कई व्यापारी अपनी सपत्ति के बल से बाजारो मे एक दम से वस्तु का भाव घटा या बढा देते हैं और इस तरह सारे बाजार पर अपना आधिपत्य जमा कर दूसरे के हको का अपहरण करते हैं।

कई व्यापारी ग्राहक को तो कहते जाते है कि–ज्यादा ले सो छारा–छोरी खाय या गऊ खाय। ग्राहक समझते हैं कि व्यापारी कसम खा रहा है परन्तु व्यापारी यह कह कर भी वस्तु का मूल्य अधिक लेता है। अधिक ली हुई रकम छारा–छोरी या गाय के खाते मे जमा कर लेते हैं। लडके–लडकी के खाते की रकम उनके खाने–पीने विवाह–शादी आदि मे लगा देते हे और गाय के खाते की रकम घर मे पली हुई गाय के खिलाने–पिलाने मे खर्च कर देते है। यदि घर के लडके–लडकी या गाय के खर्च से कुछ रकम बची रही तो छात्रालय गोशाला आदि मे देकर चोर होते हुए भी अपनी गणना दानवीरो मे कराने लगते हैं।

कई लोग किसी सार्वजनिक सस्था या लोकोपयोगी कार्य के लिए धन एकत्रित करके, या तो एकदम से दाब बैठते है या नाम के लिए थोडा–बहुत कुछ खर्च करके शेष धन हजम कर जाते है। कोई–कोई ऐसी सस्था या कार्य को कुछ समय तक, जब तक कि उसके नाम पर धन प्राप्त होता रहता है, चलाते भी रहते हैं और उसमे अपना मतलब भी गाठते रहते हैं।

कइयो ने विज्ञापनबाजी को चोरी का साधन बना रखा है। पत्रो, हैण्ड–बिलो आदि द्वारा विज्ञापन करके लोगो से आर्डर या पेशगी कीमत लेते है, परन्तु विज्ञापन के अनुसार न माल ही देते हैं, न कार्य ही करते हैं। विज्ञापन द्वारा किस तरह चोरी की जाती है, इसके लिये एक विज्ञापन के विषय मे सुनी हुई बात इस प्रकार है –

एक विज्ञापन बाज ने मक्खियो से बचने की दवा का विज्ञापन किया। उसने अपने विज्ञापन मे लिखा – "केवल एक आने के टिकट भेज देने मात्र से हम यह दवा भेजते है, जिसे भोजन करते समय पास रखने पर मक्खिया नही सताती।" लोगो ने उसके पास एक–एक आने के टिकिट भेजे। विज्ञापक ने उन टिकिटो मे से तीन पैसे के टिकिट तो अपनी जेब मे रखे और एक पैसे के कार्ड पर टिकिट भेजने वालो को उत्तर दे दिया – "आप भोजन करते समय एक हाथ हिलाते जाइये, फिर मक्खिया नही सता सकती।"

मतलब यह है कि आज के कानूनो से असभ्य चोरियो की सख्या चाहे कम हो गई हो परन्तु सभ्यता की ओट मे होने वाली चोरियो की सख्या मे तो वृद्धि ही सुनी जाती है। असभ्य उपायो से चोरी करने वाले को राज्य भी दण्डित करता है और समाज भी घृणा की दृष्टि से देखता है, परन्तु इन सभ्य उपायो से चोरी करने वाले को न तो राज्य ही दण्ड देता है और न समाज मे ही घृणित माना जाता है। हा ऐसी चोरी करने वाला समाज मे 'चतुर' या होशियार' अवश्य कहलाता है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि आज ससार का अधिकाश समाज चोरी के पाप मे पडा हुआ है।

चोरी करने वालो को दण्ड देने वालो मे से भी बहुतो के लिए सुना जाता है कि वे स्वय घूसादि के नाम पर हजारो–लाखो की चोरी करते है। स्वय तो इतनी बडी–बडी चोरी करे और दूसरो को रुपये–आठ आने की चीज चुराने पर भी दण्ड दे यह कैसे उचित कहला सकता है? चोरो को दण्ड देते समय उन्हे अपना विचार नही आता। वे इस बात को नही देखते कि हम जब ऐसी बडी–बडी चोरी करते है तब हमको इस छोटी चोरी करने वाले को दण्ड देने का क्या अधिकार है?

जब तक कोई स्वय चोरी करता है, तब तक वह दूसरे को दण्ड कैसे दे सकता है? दूसरे से किसी बात का पालन करवाने के लिए पहिले स्वय उसको पालन करना अत्यावश्यक है। आप स्वय चोरी करे और दूसरे को चोरी के लिए उचित दण्ड दे, यह न्याय नही कहला सकता।

जीवधारियो की चोरी भी द्रव्य की चोरी मे शामिल है। किसी जीवधारी पर उसकी स्वय की और यदि वह बेसमझ है तो उसके अभिभावक स्वामी आदि की आज्ञा के बिना अपना अधिकार करना, उसके द्वारा किसी भी रूप मे लाभ उठाना, चोरी है। जैसे पशु, पक्षी, स्त्री, बालक आदि को बिना उनके स्वामी की आज्ञा के अपने अधिकार मे करना, उन्हे बेच कर उनसे फायदा उठाना।

किसी के घर, बाग, खेत, मार्ग, गाव, देश या राज्य पर बिना उसकी आज्ञा के अधिकार करना, उन्हे अपने काम मे लेना या किसी प्रकार का फायदा उठाना, क्षेत्र की चोरी है।

वेतन किराया, सूद–ब्याज कमीशन आदि देने के लिये समय को न्यूनाधिक बताना, काल की चोरी है।

किसी कवि, लेखक, वक्ता के भावो को लेकर उन पर अपना रग दे अपनी बताना, किसी के उपकार को न मानना शास्त्र या ग्रन्थ के किसी भाव को पलटना या छिपाना ओर उनके नाम पर अनुकम्पा को पाप मे बताना, दूसरे का उपकार न करने के लिए लोगो को उपदेश देना आदि कार्यो की गणना भाव–चोरी म हे। जिस प्रकार –

मा देह किचि दाण।

(प्र व्या सू)

अर्थात–जरा भी दान मत दो।

इस कथन की गणना झूठ मे की गई हे। इसी प्रकार बहुत से कार्यो की गणना चारी म भी की गई हे। जेसे–अदत्तादान–विरमण–व्रत का उपदेश करत हुए प्रश्न–व्याकरण सूत्र म कहा हे –

"इस व्रत का धारण करने वाला दूसरे की निन्दा न कर दूसरे के दोष न निकाल दूसर स द्वेष न कर दूसर के नाम पर लाई हुई वस्तु आप न भोग दूसर क सुकृत सच्चरित्रता ओर उपकार का नाश न करे दूसर का दान देन म विघ्न न कर आर दूसर क गुण सुन कर असह्य न बन क्योकि ऐसा करना चोरी है।"

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे।
आयार–भावतेणे य, कुव्वइ देवकिव्विस।।

अर्थात्–जो आदमी तप, अवस्था, आचार और भाव को छिपाता है, दूसरे के पूछने पर स्पष्ट नही कहता, वह साधु होने पर भी–किल्विष (नीच) देव की योनि मे उत्पन्न होता है।

गीता मे कहा है –

तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो भुङ्क्ते स्तेन एव स ।

(अ 3)

अर्थात्–अपने पर जिसका उपकार है, जिससे अपने को सहायता मिली है, उसका बदला न चुकाना चोरी है।

जिस वस्तु की कमी से दूसरे को हानि पहुचती है, उस वस्तु का आवश्यकता से अधिक सचय करना या उपभोग करना भी एक प्रकार की चोरी है क्योकि उस वस्तु का अधिक उपभोग करने वाले को भी हानि पहुचती है और वह चीज दूसरे को नही मिलती। इसलिये दूसरे को अन्तराय भी आती है। इसी प्रकार और भी बहुत से कार्यो की गणना भाव–चोरी मे है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र मे चोरी के तीस नाम बतलाये है। इन नामो पर ध्यान देने से चोरी का व्यापक भाव समझ मे आ सकता है। वे इस प्रकार हे –

गुणानुसार चोरी के तीस नाम बताये जाते हैं। वे ये हैं– (1) चोरी, (2) दूसरे के हको को हरा जाता है, इसलिये 'परहृत', (3) बिना दिया हुआ दूसरे का द्रव्य लिया जाता है इसलिये 'अदत्त', (4) क्रूर मनुष्यो द्वारा सेवित होने से 'क्रूरकृत' (5) दूसरे के धन से लाभ लिया जाता है, इसलिये 'परलाभ', (6) सयम–नाशक होने से 'असयम', (7) दूसरे के धन मे लोलुपता होने से 'पर–धनगृद्धि' (8) दूसरे के धन के लिए चचल रहने से 'लौल्य', (9) दूसरे का धन चुराया जाता है, इसलिये 'तस्करत्त्व' (10) दूसरे का धन हरण किया जाता हे, इसलिये 'अपहार', (11) यह कार्य हाथ की चालाकी से होता है, इसलिये 'हस्तलस्त्व' (12) यह पाप–कर्म करता है इसीलिए 'पापकर्मकरण' (13) अस्तेय का नाशक है इसलिये 'स्तेय', (14) दूसरे का द्रव्य नाश किया जाता है इससे 'हरणविषणास', (15) दूसरे का धन लिया जाता है इसलिये 'आदान' (16) दूसरे के धन का लोप किया जाने से 'धन लोपन', (17)

अविश्वास का कारण होने से 'अप्रत्यय', (18) दूसरे को पीडा देने से अवपीड, (19) दूसरे के धन को छीन लेने से 'आक्षेप', (20) 'क्षप', (21) 'विक्षेप', (22) छल–कपट युक्त होने से 'कूटता', (23) कुल का कलक बनाने से कुलमसि', (24) दूसरे के धन की लालसा होने से 'काक्षा', (25) इसे छिपाने के लिए दूसरे की प्रार्थना करनी पडती है और दीन वचन बोलने पडते हैं, इससे 'लालपन–प्रार्थना', (26) दु ख का कारण होने से 'व्यसन', (27) दूसरे के धन मे लोलुपता होने से 'इच्छामूर्छा' (28) 'तृष्णा–गृद्धि', (29) माया सहित होने से निकृति–कर्म, और (30) किसी के सामने दूसरे का धन न लेने से 'अप्रत्यक्ष' नाम है। मित्रद्रोह आदि पापो से भरे हुए अदत्तादान के ऐसे ही और अनेक नाम हो सकते हैं।

चोरी के कारण

चोरी करने का अन्तरग कारण दव्य–लोलुपता है। उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवे अध्ययन मे कहा है –

रूवे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तो व सत्तो न उवेइ तुट्ठि।
अतुट्ठि दोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययइ अदत्त।।

अर्थात्–रूप की ओर से जिसे सन्तोष नही है, यानि जो रूप और रूपवान् के परिग्रह मे अत्यन्त आसक्त हो गया है और जिसे इनके सग्रह की सदेव लालसा बनी रहती है वह लोभ का मारा हुआ तथा असन्तोष के वेग से व्याकुल पुरुष दूसरे की चोरी करता है।

यही बात शब्द रस, गध और स्पर्श के लिये भी कही है यानि जो इनका लोभी हो गया है वह इनकी प्राप्ति के लिये चोरी करने मे भी सकोच नही करता। मतलब यह कि विषयसुख का लोभ या आसक्ति ही चोरी का अन्तरग कारण है।

चोरी के बाह्य कारणो मे से पहला कारण है –लोगो की बेकारी और भूखो मरना। बेकार लोग भूखे मरते अपने पेट की ज्वाला बुझाने के लिए चोरी का आश्रय लेते है। पेट की ज्वाला से पीडित लोग उचित–अनुचित उपायो का ध्यान नही रखते, किन्तु जिस तरह बनता है, उसी तरह दूसरो का धन हरण करके अपने पेट की ज्वाला बुझाते हे। समाचार–पत्रो से प्रकट हे कि केवल भारत मे ही प्रति वर्ष सेकडो मनुष्य बेकारी से घबराकर आत्महत्या कर लेते हे। बेकार होने पर भी जो लोग चोरी को बुरा समझते हे वे आत्महत्या कर डालते है। मतलब यह कि चोरी करने के कारणो मे से एक कारण बेकारी हे।

बेकारी बढाने मे मुख्यत करखानो का हाथ हे। जिस काम को कर के लाखो–करोडो आदमी अपना भरण–पोषण करते थे कारखानो के होने पर

उल लाखो–करोडो की आजीविक कुछ ही लागो को मिल जाती हैं। इस तरह कारखानो से बेकारी बढ गई हे।

बेकारी बढने का दूसरा कारण हे, देश के वाणिज्य ओर कला–कोशल का नष्ट होना। जब देश का वाणिज्य ओर कला–कौशल नष्ट हो जाता हे तब उनके द्वारा आजीविका चलाने वाले बेकार हो जाने से भूखे मरते चोरी करने लग जाते हें। बेकारी के ऐसे और भी कई कारण हें, जिनका वर्णन करना अनावश्यक हे।

चोरी के बाह्य कारणों मे से दूसरा कारण फिजूलखर्ची हे। फिजूल–खर्ची म पहला नम्बर जुए का है। सट्टा, फाटका, लॉटरी, सौदा शर्त आदि सब जुए के ही रूप हें। आलसी लोग जुआ खेलन लगते हें। जब वे अपनी सम्पत्ति को उसमे स्वाहा कर देते हैं, तब चोरी करने लगते हें। प्रारम्भ मे तो ऐसे लोगो की चोरी अपने ही घर तक रहती है, परन्तु जब घर मे दाल नही गलती या कुछ नही रह जाता, तब वे दूसरे के धन पर हाथ साफ करने लगते हें।

फिजूलखर्ची मे दूसरा नम्बर अन्य–अन्य दुर्व्यसनो का हे। यानि शराब गाजा, भग, तम्बाकू, चर्स, रण्डीबाजी आदि अन्य बुरे कार्यों का व्यसन हाना। दुर्व्यसनी को जब दुर्व्यसनो के लिए पेसा नही मिलता तब वह चोरी करन लगता हे।

फिजूलखर्ची मे तीसरा नम्बर सामाजिक–कुप्रथाओ का हे। समाज म जब यह नियम हाता हे कि विवाह शादी, नुकते या किसी ओर काम म इतना खर्च करना ही चाहिए या इतना रुपया इतना जवर इतना कपडा हान पर ही विवाह हा सकता हे या अमुक वस्तु ओर इतनी रसोई देनी चाहिये तब इस कुप्रथा ओर फिजूलखर्ची का पोषण करने क लिए भी लोग चोरी करन लगत हें। यह बात दूसरी हे कि एस लोग असभ्य उपाया से दूसर के हको का हरण न करक सभ्य उपाया से हरण कर परन्तु एसा करना भी तो चोरी ही हें। मतलब यह हे कि फिजूल खर्जी भी चोरी का एक कारण है।

चोरी के बाह्य कारणो म से तीसरा कारण हे यश– कीर्ति या बडप्पन मान–सम्मान की चाह। इस कारण से चोरी करन वालो म पहला नम्बर उन लेखको वक्ताओ और कवियो का है जो अपनी बडाई के लिए

है, या दानी बनने के लिए सस्था आदि को दान देते है। ऐसे ही वे हैं, जो दूसरे का राज्य छीन कर अपने को वीर कहलाना चाहते है अथवा जो दूसरे का रोजगार मार कर अपने को बडा व्यापारी प्रसिद्ध करने के इच्छुक रहते है। तीसरा नम्बर है, उन साधु–सन्त कहलाने वालो का, जो केवल प्रशसा और प्रतिष्ठा के लिए अपने आपको, आचार–भ्रष्ट होने पर भी उत्तम साधु, स्थविर न होने पर भी अपने को स्थविर, तपस्वी न होने पर भी अपने को तपस्वी और विद्वान न होने पर भी अपने को विद्वान बताते है। मान– बडाई के लिए ओर भी बहुत रूपो, उपायो से चोरी करते सुने जाते है, जिनका वर्णन यहा विस्तारभय से नही किया जाता है।

चोरी का चौथा कारण है–स्वभाव। अशिक्षा और कुसगति के कारण बहुत लोगो का स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि उनके पास किसी प्रकार की कमी न होने पर भी या दूसरा रोजगार मिलने पर भी, वे चोरी करना अच्छा समझते हे और चोरी करते है।

चोरी का सबसे बडा बाह्य कारण अराजकता है। राज्य द्वारा जब भूखे मरते हुओ की व्यवस्था नही की जाती, दुर्व्यसन नही मिटाये जाते, सामाजिक कुप्रथाओ तथा मान–बडाई के लिए चोरी करने वालो को नही रोका जाता और शिक्षा का प्रबन्ध नही किया जाता, तब तक चोरी होना स्वाभाविक हे।

चोरी कौन और केसे करते हे तथा चोरो मे किन लोगो की गणना हे, इसके लिए प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा हे कि –

"दूसरे का धन हरण करने मे दक्ष, इसके लिये अवसर के जानकार तथा साहस रखने वाले और हाथ की सफाई वाले ही लोग चोरी करते हैं। अपने स्वरूप को छिपा, बातो का आडम्बर बना, मधुर–मधुर बोल कर दूसरे को ठगने वाला चोर होता है। जिसकी आत्मा तुच्छ है, जिसकी धन–लालसा बढी हुई है, जो देश या समाज से बहिष्कृत है, जिसे मर्यादाभग करने मे सकोच नही हे, जो जुआ खेलता हे, चोरी मे बाधा देने वाले को या जिससे धन मिलने की आशा है उसकी घात करने मे जिसे भय या सकोच नही होता, अपने साथियो की घात करने मे भी जो नही हिचकिचाता और ग्राम, नगर जगल आदि को जला देता हे, वह चोरी करता है। जो ऋण लेकर फिर लोटाना नही जानता, जो सन्धिभग करता है जो सुव्यवस्था रखने वाले राजा का बुरा चाहता हे साधु–साध्वी, श्रावक–श्राविका मे जो भेद डालता है और चोरी करने वालो को उनके चोरी के कार्य मे किसी भी रूप से सहायता देता

है, वह चोर है। चोर लोग जबरदस्ती या गुप्त रह कर वशीकरणादि मन्त्रो का प्रयोग करके गाठ काट कर तथा ओर भी दूसरे उपायो से दूसरे का धन स्त्री, पुरुष, दास दासी, गाय, घोडा आदि हरण कर, लेते हें। इसी प्रकार राज–भण्डार तोडकर भी धन–हरण करते हैं। इसी तरह दूसरे के धन का हरण करने के प्रत्याख्यान–रहित, विपुल बल, परिवार वाले, अपने धन म सन्तोष न मानने वाले और दूसरे के धन का लोभ रखने वाले बहुत से राजा लोग दूसरे राजा के देशो को नष्ट करके धन हरण करने के लिए, युद्ध के निमित्त चतुरगिणी सेना सजा और 'पहले मैं ही विजय कर लू ऐसा दर्प रखने वाले उत्तम योद्धाओ को लेकर तथा व्यूह बना कर, दूसरे के बल को नष्ट करके उसका धन हरण करते हैं।

और भी कहा गया है कि–अनुकम्पा और परलोक के डर से रहित चोर लोग, ग्राम, नगर, खदान, आश्रम आदि तथा समृद्ध देशो को लूट लेते हे और उन्हे नष्ट कर डालते हैं। चोरी करने मे स्थिर हृदय और दारुण बुद्धि वाले निर्लज्ज लोग, लोगो के घर मे सेध फोड कर, घर मे रखे हुए धन– धान्यादि का हरण करते हें और सोये हुए गाफिल लोगो को लूट लेते हैं। धन की खोज मे ऐसे लोग, काल–अकाल मे ओर जाने न जाने योग्य स्थान का विचार नही करते, किन्तु जहा रक्त की कीच हो रही हैं, मृतको के शव रक्त से भीगे पडे हें, प्रेत, डाकिनी–शाकिनी आदि घूमती हें और श्रृगाल उलूकादि भयानक पशु–पक्षी शब्द करते हें– ऐसे घोर श्मशानो मे, सूने मकानो म पर्वत की गुफाओ म तथा जहा सर्पादि भयकर जानवर रहते हैं ऐसे विषम जगलो मे रह कर, शीत–ताप की पीडा सहते हें ओर यही चिन्ता किया करते हें कि किस का धन हरण करे। ऐसे स्थानो मे रहते हुए, ये लोग भूख लगने पर कभी तो लड्डू, भात, मदिरा आदि का भोजन–पान करते हें ओर कभी कन्दमूल मृतक–शरीर या जो कुछ मिल जावे, वही खा लेते हें। जिस प्रकार भेडिया खून की तलाश म इधर–उधर घूमता–फिरता हे उसी प्रकार चोर लोग भी पराये धन की तलाश म इधर–उधर घूमते–फिरते हें ओर नरक–तिर्यंच योनि [illegible] वाले कष्टो को वे निरन्तर यही भोगते हें। चोरी करने वाले लोग [illegible] म निन्दित हे पापी हे राजाज्ञा–भजक हे प्राणियो के दुख के [illegible] मानसिक चिन्ताओ से तथा इसी लोक म सेकडो दुखो से युक्त

चोरी का फल

चोरी घोर नीच कर्म है। इस नीच काम मे प्रवृत्त होने वाले की इन्द्रिया ओर मन सदा चचल रहते है। जो धर्ममार्ग मे बाधक है। धर्म मे इन्दियो और मन के एकाग्र होने की खास आवश्यकता है किन्तु चोरी करने वाले की इन्दिया और मन सयम मे नही रहते, इससे वह धर्म से सदा दूर रहता है।

चोरी करने वाले की वृत्तिया ऐसी खराब हो जाती हैं कि ससार के किसी भी नीच–कार्य से उसे घृणा नही होती। उसकी वृत्तिया निरन्तर पापो मे ही जाती है। प्रेम दया, अहिसा आदि गुण चोरी करने वाले के पास भी नही ठहरते।

चोरी की निन्दा करते हुए भगवान ने प्रश्नव्याकरण–सूत्र मे कहा है–

"हे जम्बू ! तीसरा आश्रवद्वार अदत्तादान यानि नही दिये हुए धनादि को ग्रहण करना हे। यह अदत्तादान हरण करना, जलाना–मारना, भय पाना आदि पापो से लिप्त है। अदत्तादान की उत्पत्ति दूसरे के धन मे रौद्र–ध्यान सहित मूर्छा होने से होती है। यानि धन से जिसकी तृष्णा नही मिटी है, वही चोरी करता है। चोरी करने वाले लोग आधी रात तथा पर्वतादि विषम स्थानो तक का आश्रय लेते हैं ओर उत्सवादि मे गाफिल तथा सोये हुए को लूट लेना ठग लेना दूसरे के चित्त को व्यग्र करना, दूसरे को मार डालना, उनका काम होता है। यह चोरी कार्य राग–द्वेष से पूर्ण, दया से रहित आर्यजनो तथा साधुजनो से निन्दित ओर तस्करो को बहुत प्रिय है। अदत्तादान भय अकीर्ति, वध नाश सग्राम पियजनो तथा मित्रजनो की अप्रीति ओर जन्म–मरण का कारण हे। यह कार्य दु खो के प्रवेश करने का द्वार हे। इसके करने वाले को राजादि द्वारा दण्ड प्राप्त होता है। इसका फल दारुण है यह बडे पाप का प्रवाह है इसलिये इस कार्य को आश्रव द्वार कहते है।

चोरी करने वाले की कीर्ति नष्ट हो जाती हे। एसे आदमी का विश्वास करना तो दूर रहा लोग उसके पास खडे भी नही रहते उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। चोरी करन वाले की इस लोक ओर परलोक म जा दुर्गति होती हे उसका वर्णन प्रश्नव्याकरण सूत्र मे सुन्दर ढग स किया गया हे। कर्म स परामव पाये हुए लोग अपनी इन्द्रिया को सयम म नहीं रख सकत। तव शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श मे लालुप वन कर, इनक माह म मुग्ध होकर तथा दूसरे के धन म लोम–तृष्णा वढी हुई होने से ठग कर, झूठ वाल कर ओर सध आदि द्वारा दूसरे का धन हरण करते हैं। तव उन नरकगामी चारा को पकड कर राजपुरुष अपने आधीन करते हैं, वाध कर प्रसिद्ध–प्रसिद्ध मार्गो से घुमात हैं ओर लात, घूसे, जूते, लकडी आदि से मारते हैं आदि आदि।

यह तो चोरी करने के कारण इस लोक मे हान वाले कष्टा का सक्षिप्त वर्णन हुआ। परत्लाक मे हाने वाले कष्टो का वर्णन करते हुए सूत्र म कहा हे कि –

चारी करने वाले लोग मर कर नरक म जाते हैं। नरक आनन्द–दायक स्थान नही हे किन्तु उसम कही ता धधकती हुई आग रहती हे ओर कही अत्यन्त शीत। ऐस नरक मे उन्ह अनक कठिन दु ख भोगने पडते हैं। वहुत काल तक वहा रहन के पश्चात् वे तिर्यचयानि म जन्म पात हैं जहा नरक क समान ही दु ख हाता हे। चारी करने वाले लोग यदि अनन्तकाल क पश्चात मनुष्यमव पात भी हैं ता अनक वार नरक–तिर्यच–यानि म परिभ्रमण कर चुकन पर मनुष्य जन्म पाते हैं। मनुष्य–जन्म म भी वे सुखी नही हात या ता अनार्य जाति म उत्पन्न हात हैं या आर्य–जाति क ऐस कुल म जन्म लत हैं। जिसम लाग घृणा करते हैं। इस प्रकार मनुष्य–यानि पाकर भी वे पशु–तुल्य कष्ट भागत ह मनुष्य यानि म भी व तत्त्व ज्ञान नही पात क्योंकि वे शास्त्र–विरुद्ध तत्त्व क उपदशक एकान्त हिसा म श्रद्धा रखन वाल ओर [illegible] की वहुत लालसा वाल हात हैं। मनुष्य भव म व लाग नरक [illegible] [illegible] कर्म करत ह ओर अपन ससार का वढात हैं। चारी करन वाल इस तरह [illegible] प्रकार क कर्म–वन्धना स अपन का वाध कर नरक तिर्यक मनुष्य [illegible] [illegible] [illegible] भटकत रहत हैं।

इन [illegible] [illegible] हुए [illegible] [illegible] और कष्टा स वचन क लिए चोरी का [illegible] [illegible] –

अदत्तादान–विरमण व्रत

अदत्त नादत्ते, कृतसुकृतकाम किमपि य ।
श्रुतश्रेणीस्तस्मिन्, वसति कमलहसीव कमले ।।
विपत्तस्माद् दूर व्रजति रजनीवाम्बरमणै ।
विनीत विद्येव, त्रिदिव शिवलक्ष्मीर्भजति तम् ।।

(सिदूरप्रकरण)

अर्थात्–जो पुण्यकामी बिना किसी की दी हुई वस्तु को ग्रहण नही करते, उनमे शास्त्र–श्रेणी इस पकार रहती है, जैसे कमल पर कमल हसी। ऐसे लोगो से विपत्ति उसी प्रकार दूर हट जाती है, जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर रात्रि हट जाती है। जिस तरह विद्याविनीत पुरुष को अगीकार करती हे उसी तरह अदत्तादान के त्यागियो को स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी स्वीकार करती है।

चोरी का जो सूक्ष्म और स्थूल सक्षेप मे बताया गया है उससे निवृत्त होने के लिये अदत्तादान–विरमण–व्रत को धारण करना उचित है। इस व्रत को धारण करके पालन करने वाला, इस लोक मे सुखी रहता है विश्वासपात्र माना जाता हे, यश तथा कीर्ति प्राप्त करता है और परलोक मे भी सुख पाता हे। इस व्रत की प्रशसा और इससे होने वाले लाभ के विषय मे प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है कि–

अन्य के द्रव्य को हरण करने की क्रिया से निवृत्तियुक्त यह अदत्तादान विरमण नाम का व्रत सुव्रत ओर सम्मान देने वाला है। यह व्रत तृष्णा और कलुषता का निग्रह करने वाला इन्द्रियो को सयम मे रखने वाला तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट उत्कृष्ट निर्ग्रन्थ–धर्म है। यह व्रत पाप के मार्ग को रोकने वाला हे। इस व्रत को धारण करने वाला सब मनुष्यो मे उत्तम तथा बलवान् हे। इसके धारण करने वाले को कोई भय नही है। और न उसे कोई दोष ही लग सकता हे।

अन्य विद्वानो ने भी इस व्रत की प्रशसा करते हुए कहा है–

तमभिलषति सिद्धिस्त वृणीते समृद्धि
तमभिसरति कीर्तिर्मुञ्चते त भवार्तिं ।
स्पृहयति सुगतिस्त नेक्षते दुर्गतिस्तम्
परिहरति विपत्ति यो न गृह्णत्यदत्तम् ।

(सिन्दूरप्रकरण)

अर्थात्–सिद्धि उसकी अभिलाषा करती हे, समृद्धि उसे स्वीकार करती हे कीर्ति उसके पास आती है, सासारिक पीडाए उसे त्याग देती हैं सुगति उसकी स्पृहा (चाह) करती है, दुर्गति उसे नही देखती हे ओर विपत्ति उसे छोड देती हे, जो बिना दिये हुए यानी अदत्त को ग्रहण नही करता।

शास्त्र मे बताये हुए पाचो व्रत एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्ध रखते हैं कि एक भी व्रत का पूर्ण रीति से पालन करने पर सब व्रतो का पालन स्वय हो जाता हे ओर एक भी व्रत का खण्डन करने पर अन्य सब व्रतो का खडन हो जाता है। इसलिए शेष चार व्रत का पालन करने के लिये भी इस व्रत को धारण करना आवश्यक है।

शास्त्र मे अदत्तादान–विरमण के दो रूप बताये गये हैं। एक सूक्ष्म ओर दूसरा स्थूल अर्थात् महाव्रत एव अणुव्रत। सूक्ष्म व्रत साधु के लिए बताया गया हे ओर स्थूलव्रत गृहस्थ श्रावका के लिए। गृहस्थ–श्रावक सूक्ष्म–अदत्तादान–विरमण व्रत का पालन नही कर सकते, क्योकि महाव्रत (सूक्ष्म व्रत) तीन करण ओर तीन याग रा धारण किया जाता हे तथा उसमे किसी की बिना दी हुई वस्तु मात्र को ग्रहण करने का त्याग करना होता है। सूक्ष्म अदत्तादान विरमण व्रत को धारण करते समय साधु प्रतिज्ञा करता हैं –

समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसू परदत्तभोई पावकम्म णो करिस्सामिति समुट्ठाए सव्व भते अदिण्णादाण पच्चक्खामि।

(आचा द्वि श्रु, 16वा अ)

अर्थात–हे पूज्य । मे गृह धन पशु पुत्र का त्याग कर दूसरे का दिया हुआ भोगने वाला साधु होता हू। इसलिय मै सावधान होकर प्रतिज्ञा करता हू कि अदत्तादान का पाप मै नही करूगा किन्तु वे ही चीज भोगूगा [illegible]

अहावर तच्च भते! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमण सव्व भते! अदिन्नादाण पच्चक्खामि से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्प वा बहु वा अणु वा थूल वा चित्तमत वा अचित्तमत वा नेव सय अदिन्नगिण्हेज्जा

[illegible]

नेवन्नेहि अदिण्ण गिण्हावेज्जा अदिन्न गिणाहते वि अन्ने ने समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविह तिविहेण मणेण वायाए काएण न करेमि, न कारवेमि करतपि अन्न न समणुजाणामि। जस्स भते। पडिक्कमामि निदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि। तच्चे भ ते। महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमण।

(दशवेका चौ अ)

अर्थात्–गुरु से शिष्य ने पूछा–भगवन् ! तीसरा महाव्रत कौन–सा है? गुरु ने कहा–तीसरा महाव्रत अदत्तादान से निर्वत्तना है। शिष्य ने पूछा–उसमे क्या करना पडता है ? गुरु ने कहा–ग्राम, नगर या जगल आदि मे, थोडी या ज्यादा, छोटी या बडी सचित्त या अचित्त वस्तु को किसी के दिये बिना ग्रहण करना ही, दूसरे से ग्रहण करवावे नही और ग्रहण करने वाले को भला समझे नही, मन से वचन से ओर काय से। तब शिष्य कहता है – भगवन् ! मै अदत्तादान को बुरा समझ कर आपके कथनानुसार उससे निवर्त्तता हूँ। मै अदत्तादान का प्रतिक्रमण करता हू, इसकी निन्दा करता हू और इस पाप को आत्मा से अलग करके तीसरे महाव्रत मे सर्वथा अदत्तादान–विरमण मे उपस्थित होता हू।

सूक्ष्म (महाव्रत) धारण करने के समय साधु को इस प्रकार प्रतिज्ञा करनी होती हे। इस प्रतिज्ञा के अनुसार साधु बिना दी हुई किसी भी वस्तु को नही ले सकते, फिर वह वस्तु चाहे गुरु की हो, शिष्य की हो या और किसी की हो। जिस वस्तु पर किसी का अधिकार नही है, या जो वस्तु सार्वजनिक है साधु उसका उपयोग भी बिना किसी की आज्ञा के नही कर सकते क्योकि ऐसी वस्तु पर साधु का अधिकार नही रहा है। ससार की सारी वस्तुओ से साधु अपना अधिकार उठा चुके हें इसलिये वे उसी वस्तु का भोगोपभोग कर सकते हे जो दूसरे ने दी हो। साधु यदि किसी को अपना शिष्य भी बनावेगे तो शिष्य बनने वाले के अभिभावको की आज्ञा प्राप्त हो जाने पर। अभिभावको की आज्ञा के बिना शिष्य बनाने वाले साधु का यह महाव्रत भग हो जाता हे। इसी तरह अन्य सम्प्रदाय के साधु को बिना उसके गुरु की अनुमति प्राप्त किये अपने मे मिला लेना भी अदत्तादान है।

मतलब यह कि महा व्रत धारण करने वाला किसी की वस्तु को बिना दूसरे के दिये अपने काम मे नही ला सकता। गृहस्थ–श्रावक यदि सूक्ष्म व्रत धारण करे तो सार्वजनिक चीज तो क्या घर की भी उन चीजो को नही ले सकता जिन पर घर के किसी दूसरे आदमी का किचित भी अधिकार हे।

इसलिये जब तक वह गृहस्थ हे तब तक सूक्ष्म अदत्तादान –विरमण व्रत का पालन करने पर उसका गृहस्थ–जीवन नहीं निभ सकता। इस बात का विचार कर शास्त्रकारा ने गृहस्थ श्रावको के लिये स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत बतलाया हे। उन्हाने श्रावका के लिये यह व्रत धारण करना आवश्यक बतलाया हे।

थूलग अदत्तादाण समणोवासओ पच्चक्खाइ, से अदिन्नादाणे दुविहे पन्नते तजहा–सचित्तादत्तादाणे अचित्तादत्तादाणे अ।

(आवश्यक सूत्र अ 6)

अर्थात–श्रमणोपासक स्थूल अदत्तादान का त्याग करे। स्थूल अदत्तादान दा प्रकार का हे। एक सचित्त अदत्तादान ओर दूसरा अचित्त–अदत्तादान।

टीकाकार ने स्थूल अदत्तादान की व्याख्या करते हुए कहा है कि दुष्ट अध्यवसाय–पूर्वक अपन अधिकार से परे अर्थात् दूसरे के अधिकार की वस्तु को बिना उस वस्तु क अधिकारी की आज्ञा के ग्रहण करना स्थूल–अदत्तादान है। यह अदत्तादान दा प्रकार का हे। जिसम जीव हे वह सचित्त हे ओर सचित्त की चारी करना सचित्त–अदत्तादान हे। सचित्त मे मनुष्य पशु, पक्षी कीटाणु, [illegible] वृक्ष आदि व सब शामिल हें, जिनम जीव हे। जिसम जीव नही है उसे अचित्त कहत हें। जस साना, चादी ताम्बा पीतल, रत्न ककर वस्त्र आदि। अचित्त की चारी करना अचित्त–अदत्तादान हे।

शास्त्रकारा न गृहस्थ–श्रावका का स्थूल अदत्तादान– विरमण व्रत म [illegible] चारी का त्याग बतलाया हे जिसे ससार म चारी कहत हें ओर जिस चारी [illegible] म चारी करन वाला चार कहा जाता हे तथा लाेग उसे घृणा से दखत हे। [illegible] वस्तु सार्वजनिक हे वस्तु पर किसी व्यक्तिविशेष का अधिकार नही [illegible] लन या उसका उपभाग करन का त्याग श्रावका का नही कराया [illegible]।

[illegible] यह कि दुष्ट अध्यवसाय पूर्वक दूसरा क हका का हरण कर[illegible] [illegible] स्थूल अदत्तादान–विरमण व्रत हे। इस तीसरा व्रत क [illegible] साधु तीन करण आर तीन याग स अदत्तादान का [illegible] श्रावक दा करण ओर तीन याग स स्थूल–अदत्तादा[illegible] [illegible] कि आनन्द श्रावक न किया था। यथा –

[illegible] च ण थूलय अदि ण्णादाण पच्चक्खामि जावज्जीवाए दुविह तिविहेण न करमि न कारवमि मणसा वयसा कायसा।।

(उपा सू प्र अ)

अर्थात्–स्थूल मृषावाद त्यागने के पश्चात आनन्द श्रावक ने स्थूल–अदत्तादान का त्याग दो करण–करुगा नही और कराऊगा नही और तीन योग–मन से, वचन से और काय से किया।

स्थूल–अदत्तादान विरमण व्रत धारण करने पर श्रावक के न तो सासारिक काम ही रुकते हैं और न वह स्थूल चोरी के पापो मे ही पडता है। ससार मे भी वह पामाणिक और विश्वास पात्र माना जाता है। इसलिए श्रावको को यह व्रत अवश्य धारण करना चाहिये।

बहुत लोग समझते है कि हमारा काम चोरी किये बिना नही चल सकता। ऐसा समझना उसी प्रकार की कमजोरी और भूल है जैसी भूल कमजोर और नशेबाज की होती है –जो यह समझता है कि बिना नशे के मेरा जीवन नही रह सकता। उसी तरह यह समझना कि हमारा काम बिना चोरी किये नही चल सकता, यह नितान्त भूल है। बिना चोरी किये जो काम चलेगा, वह काम चोरी करके चलाये गये काम से असख्य गुणा श्रेष्ठ होगा।

अतिचार

इस तीसरे व्रत–स्थूल अदत्तादान–विरमण के पाच अतिचार है –

थूलग अदिन्नादाण वेरमणस्स पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तजहा–तेनाहडे, तक्कर प्पओगे विरुद्ध रज्जाइकम्मे, कूडतुल्ल कूडमाणे, तप्पडि रुवगववहारे।

(उपा सू प्र अ)

अर्थात् – स्थूल अदत्तादान–विरमण के पाच अतिचार श्रावक को जानन याग्य हे परन्तु आचरण करने योग्य नही है। वे अतिचार य हैं–स्तेनाहृत तस्करप्रयाग विरुद्धराज्यातिक्रम, कूटतुल कूटमान तत् प्रति रुपक व्यवहार।

अतिचार तभी तक अतिचार हे जब कि उसमे वताय हुए काम सकल्प–पूर्वक न किय जावे। सकल्प–पूर्वक यानी जान बूझ कर इन्ही कामा का करन रा यही काम अनाचार की गणना मे आ जात हें ओर अनाचार हात ही व्रत भग हा जाता हे। भगवान् ने इन अतिचारा का विशेष रूप स इसलिए वताया हे कि अतिचार म वताई हुई वाता का काम गृहस्थी म विशेष रूप रा पडता ह इसलिय इन कामा का जान कर इनस वचने की सावधानी रख अन्यथा व्रत टूट जाएगा।

ऊपर कहे हुए पाच अतिचारा म।रा पहला अतिचार तनाहड या स्तेनाहृत ह। टीकाकार न इसकी व्याख्या इस प्रकार की ह –

[illegible] – चाररराहृत–आनीत किं चत कुकुमादि दशान्तरात [illegible] लाभाद गृह्णत।ऽतिचार।

[illegible] द्वारा दूसरी जगह स हरण की हुई वस्तु, फिर वह वस्तु [illegible] ग्रहण करना स्तनाहृत या [illegible] अतिचार

[illegible] देखकर उसक विषय म बिना कुछ [illegible]

[illegible]

की वस्तु खरीद मे आ जाना स्वाभाविक है। जानबूझ कर चोरी की वस्तु खरीदना चोरी के समान ही पाप है। इस प्रकार से चोरी की हुई वस्तु खरीदने वाले को राज्य भी चोर के ही समान दण्ड देता है और चोरी की न जानकर साहूकारी रीति से खरीदी हुई वस्तु को बिना मूल्य लौटाये ही ले लेता है। इसलिये प्रत्येक वस्तु को लेते समय यह जाच कर लेना उचित है कि यह वस्तु चोरी की तो नही है। चोरी की वस्तु भूल से भी न खरीदनी चाहिये, अन्यथा वह अतिचार हो जाएगा।

यहा प्रश्न होता है कि चोरी के विषय मे मोटे रूप से कैसे जाना जा सकता है कि यह वस्तु चोरी की है? इसके लिए सब से बडी पहचान वस्तु के बाजार–भाव से विशेष कम दाम मे मिलना है। जिस वस्तु का बाजार मे एक रुपया लगता है, वही वस्तु यदि आठ आने मे मिल रही हो तो यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि यह वस्तु कैसी है? जो इतनी कम कीमत मे बिक रही है। इस सन्देह पर से अनुसन्धान किया जावे तो चोरी की वस्तु होने पर बिना मालूम हुए न रहेगा। ससार मे जब कोई किसी वस्तु को बाजार भाव से कम मे मागता है तब वह चीज लाने वाला उस मागने वाले से प्राय कहता है कि 'यह चीज चोरी की नही है' या कहता है– 'सस्ती चीज लेनी हो तो कही चोरी की ढूढो'। मतलब यह है कि बाजार भाव से सस्ती प्राय वही चीज मिलती है, जो चोरी की हो। वैसे तो जिसका काम रुका होता है वह भी बाजार भाव से सस्ती चीज देता है परन्तु ऐसी चीज इतनी सस्ती नही होती जितनी सस्ती चोरी की चीज होती है। इसलिये चोरी की चीज का पहचान मे आना कोई कठिन बात नही है। वस्तु के विषय मे सन्देह हो और जाच करने पर भी उसके विषय मे विश्वास न हो तो ऐसी वस्तु को न खरीदना ही अच्छा है।

दबा–छिपा कर बेचने वाले लोगो की चीज के विषय मे भी इसी प्रकार का सन्देह हो सकता है। ऐसी वस्तु भी बिना विश्वास किये लेना ठीक नही।

दूसरा अतिचार तक्कर प्पओगे या तस्करप्रयोग हे। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हे। –

तस्करा – चौरास्तेषा प्रयोग हरणक्रियाया प्रेरणमभ्यनुज्ञा तस्कर प्रयोग ।

अर्थात–चोरो को चोरी करने की प्रेरणा तस्कर प्रयोग या तक्कर प्पओगे अतिचार हे।

चोरो को चोरी करने की प्रेरणा करना चोरी का अतिचार हे। फिर वह पेरणा चाहे उत्तेजना देकर की जावे या चोरी के कार्य मे किसी प्रकार

की सहायता देकर। राज्य नियमानुसार भी चोरी की प्रेरणा करने वाला चोर के ही समान दण्डनीय माना जाता है। श्रावक को इस अतिचार से बचने के लिये सावधान रहना उचित है।

चोरो को चोरी मे सहायता देकर चोरी की प्रेरणा करने वाले लोग आजकल बहुत सुने जाते है। जैसे किसी चोर को चोर जानते हुए भी राज्य-कर्मचारियो का उस चोर को अचोर ठहराना ओर इसी तरह चोर जानते हुए भी केवल मेहनताने के लिये वकीलो का चोर को निर्दोष ठहराने की चेष्टा करना। ऐसा करना प्रकारान्तर से चोरो की सहायता करके चोरी की प्रेरणा करना है, जो चोरी के ही समान पाप है। श्रावक को इस विषय मे सावधान रहने की जरूरत है, जिससे भूल से भी चोरो को चोरी मे सहायता देकर चोरी करने की प्रेरणा स्वरूप यह अतिचार न लगे क्योकि केवल चोरी करने वाला ही चोर नही माना जाता किन्तु चोरी मे सहायता या चोरी की प्रेरणा करने वाले भी चोर है।

तीसरा अतिचार विरुद्ध रज्जाति कम्मे या विरुद्ध राज्यातिक्रम है। इस अतिचार की व्याख्या करते हुए टीकाकार लिखते है –

विरुद्धनृपयोर्यद् राज्य तस्यातिक्रम अतिलङ्घन विरुद्ध राज्यातिक्रग।

अर्थात–जो राजा लोग परस्पर विरोध रखते है यानी लडते हैं उनके राज्य को एक दूसरे राज्य वाले विरुद्ध नृप राज्य कहते है। ऐसे विरुद्ध राज्य का उल्लघन करना यानी लडाई के समय विरुद्ध राज्य म आना-जाना विरुद्ध-रज्जातिकम्म या विरुद्धराज्यातिक्रम हे। एसा करन मे राजा ओर धर्म दाना की मर्यादा भग होती हे।

लडाई के रागय सुव्यवरथा क लिये राज्य म आवागमन नही किया जाता ह। क्याकि एरा करन रा एक राज्य म दूसर राज्य का भद चले जान का भय रहता हे। इरालिय श्रावक का इरा अतिचार रा बचन की रावधानी रखनी चाहिय।

कई लाग इस अतिचार का अर्थ राजा क विरुद्ध काम करना लगात है। लेकिन इस अतिचार का यह अर्थ नही हा राकता। यदि यह अर्थ लगाया [illegible] बहुत उलट-पलट विपरीत परिरिथति पेदा हा जाव ओर श्रावक का [illegible] करन म बडी अराुविधा हा। उदाहरणार्थ-राजा कभी [illegible] भाग की आय कम हा गई है अत [illegible] दशा म क्या श्रावक शराब पीन लगग? [illegible] का विरुद्ध कर [illegible] अतिचार [illegible]

कैसे हो सकता है? बल्कि ऐसे हुक्म या ऐसे राजा का विरोध न करना पाप का भागी होना है। और इसका फल पजा को उसी प्रकार भोगना पडता है, जिस पकार राजा श्रेणिक की उस आज्ञा का, जिसके अनुसार साहूकारो के छ लडके स्वच्छन्द बना दिये गये थे—विरोध न करने के कारण राजगृही की पजा को भोगना पडा। यदि राजगृही की पजा राजा श्रेणिक की ऐसी आज्ञा का विरोध करती तो अर्जुन माली के हाथ से पजा के बहुत से निरपराध मनुष्य न ही मारे जाते। इसलिये इस अतिचार का अर्थ राजा के विरुद्ध काम करना नही हो सकता। हा राज्य के विरुद्ध काम करना चाहे इस अतिचार का अर्थ लगा लिया जावे क्योकि 'राज्य' देश की सुव्यवस्था का नाम है। राजा और राज्य शब्द के अर्थ मे अन्तर है। राजा वह कहलाता है, जो देश की सुव्यवस्था के लिये नियत किया जावे। जिस देश मे सुव्यवस्था नही है, वहा के लिये राजा के होते हुए भी कहा जाता है कि अमुक जगह अराजकता फेली हुई है अर्थात् सुव्यवस्था नही है। यदि यह अतिचार राजा के विरुद्ध काम करने का भी मान लिया जावे, तब भी शास्त्रीय दृष्टि से राजा वही है, जिसे बहुजन समाज देश की सुव्यवस्था के लिये नियत करे। जिस राजा का बहुजन समाज विरोध करता है परन्तु वह अपनी तलवार के जोर से राजा बना हुआ है और लोग भय के मारे उसे राजा मानते है ऐसा राजा शास्त्रीय दृष्टि से राजा नही कहला सकता।

मतलब यह है कि इस अतिचार का अर्थ राजा के विरुद्ध काम करना नही किन्तु विरुद्ध राज्य की सुव्यवस्था एव राज्य—मर्यादा का उल्लघन करना है।

चौथा अतिचार कूडतुल्ल कूडमाणे या कूटतुला कूटमान है। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते है —

तुला प्रतीता गान—कुडवादि कूटत्व—न्यूनाधिकत्व
न्यूनया ददतोऽधिकया गृह्णतोऽतिचार।

अर्थात्त—तराजू से तोल कर या नाप से नाप कर कम देना या लेना कूडतुल्ल कूडमाणे या कूटतुला कूटमान अतिचार है।

नियत बाट—पेमाने से कम ज्यादा वजन या नाप के बाट—पैमाने रखकर उनसे तोलना—नापना या पूरे बाट पैमाने रख कर भी डण्डी मारना लेन—देन वाले को धोखा देकर कम—ज्यादा नापना—तोलना चोरी हे। भूल या असावधानी से कम ज्यादा नापना—तोलना अतिचार हे। इसलिये श्रावक को इस विषय मे सावधानी रखना उचित है जिससे अतिचार न लग।

सुनने मे आता है कि कई लोग दो तरह के बाट–पेमाने रखते हैं। एक तो नियत बाट–पैमाने से कम होते हैं और दूसरे अधिक। जब किसी को वस्तु देनी होती है, तब तो उन बाट–पैमाने से तोलते–नापते हैं जो कम होते हैं और किसी से लेनी होती है, तब उन बाट–पेमानो से तोल–नाप कर लेते हैं, जो अधिक होते हैं। कई लोग पूरे बाट–पैमाने रख कर भी तोलने–नापने मे ऐसी चालाकी से काम लेते हैं कि दी जाने वाली वस्तु तो कम जावे और ली जाने वाली वस्तु अधिक आवे। श्रावको को इस अतिचार से बचते रहने की सावधानी रखनी चाहिये।

पाचवा अतिचार तप्पडि रुवग ववहारे या तत्प्रतिरूप– व्यवहार हे। इसकी व्याख्या टीकाकार ने इस प्रकार की है –

तेन अधिकृतेन प्रतिरूपक सदृश तत्प्रतिरूपक तस्य विविधमवहरण व्यवहार प्रक्षेपस्ततत्प्रतिरूपको व्यवहार, यद्यत्र घटते ब्रीह्यादि घृतादिषु पलज्जी वसादि तस्य प्रक्षेप इतियावत् तत् प्रतिरूपकेण वा वसादिना व्यवहरण तत्प्रतिरूपक व्यवहार।

अर्थात्–किसी अच्छी वस्तु मे उसी वस्तु के सदृश या उसमे निभने वाली हलकी वस्तु मिला कर देना 'तप्पडिरूव गववहारे' या तत्प्रतिरूप व्यवहार अतिचार हे।

किसी अच्छी वस्तु मे हल्की वस्तु का समिश्रण करना या हल्की वस्तु म थोडी अच्छी वस्तु मिला कर उसे अच्छी कह कर देना या अच्छी वस्तु का नमूना दिखा कर हल्की वस्तु देना आदि कार्यो की गणना चोरी म हे। असावधानी म यदि एसा हो जावे तो अतिचार है।

आजकल इस अतिचार का अनाचार के रूप मे सेवन करने की बात बहुत सुनाई दती हैं। पेसा कमाने के लिए कई लोग अच्छी वस्तु म हल्की वस्तु का सम्मिश्रण कर देत हे। जीरे मे रेत मिलाना कालीमिर्च म पपीते के बीज मिला दना मिर्च म कूट हुए बेर मिलाना रूई या कपास म पानी छिटक कर उसे अधिक वजन का बनाना घी म खोपर या मूगफली का तेल या [illegible] घी मिलाना देशी शुद्ध घी म उबल हुए आलू का भरता बनाकर [illegible] रग आदि म आटा या रेत मिलाना इसी प्रकार नमूने के [illegible] देशी कह कर विदेशी और पवित्र कह कर अपवित्र [illegible] जाती है। एसा करना चोरी है अत श्रावको [illegible] अन्यथ [illegible] म भी इन कामो के [illegible] पर [illegible]

[illegible]

इस तीसरे व्रत को धारण करने से होने वाले लाभ और न धारण करने से होने वाली हानि का यहा दिग्दर्शन कराया गया है। मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि वह इस व्रत को धारण करे। इस व्रत को धारण करने पर जीवन नीतिमय बन जाता है। यदि ससार के सब मनुष्य इस व्रत को धारण करके पूर्ण रीति से पालन करने लगे तो अशाति सदा के लिये नष्ट हो जावे।

व्रत धारण करने से पूर्ण लाभ तभी है, जब व्रत का निरतिचार पालन किया जावे। इसलिये व्रत धारण करने वाले को व्रत मे अतिचार न होने देने की विशेष रूप से सावधानी रखनी चाहिए। जो लोग इस व्रत का निरतिचार पालन करते है, उनका सदा कल्याण ही कल्याण है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य शब्द कैसे बना है और वह क्या वस्तु है ? सर्वप्रथम इस बात पर विचार करना चाहिए। हमारे आर्यधर्म के साहित्य मे ब्रह्मचर्य शब्द का उल्लेख मिलता है। जिन दिनो अवशेष ससार यह भी नही जानता था कि वस्त्र क्या होते हैं और अन्न क्या चीज हे तथा नङ्ग–धडङ्ग रहकर, कच्चा मास खाकर अपना पाशविक जीवन यापन कर रहा था, उन दिनो मे भी भारत वहुत ऊची सभ्यता का धनी था। उस समय भी उसकी अवस्था बहुत उन्नत थी। यहा के ऋषियो ने, जो सयम, योगाभ्यास, ध्यान, मौन आदि अनुष्ठानो मे लग रहते थे, ससार मे ब्रह्मचर्य नाम को प्रसिद्ध किया। ब्रह्मचर्य का महत्त्व तभी स चला आता हे – जब से धर्म की पुन प्रवृत्ति हुई। भगवान् ऋषभदव ने धर्म मे ब्रह्मचर्य को भी अग्रस्थान प्रदान किया था। साहित्य की ओर दृष्टिपात कीजिए तो विदित हागा कि अत्यन्त प्राचीन साहित्य–आचाराग सूत्र तथा ऋग्वेद मे भी ब्रह्मचर्य की व्याख्या मिलती है। इस प्रकार आर्य प्रजा का अत्यन्त प्राचीन काल से ब्रह्मचर्य का ज्ञान मिल रहा हे।

ब्रह्मचर्य की शक्ति

आजकल ब्रह्मचर्य शब्द का सार्वसाधारण म कुछ सकुचित–सा अर्थ समझा जाता हे। पर विचार करन पर मालूम हाता हे कि वास्तव म उसका अर्थ बहुत विस्तृत है। ब्रह्मचर्य का अर्थ बहुत उदार हे अतएव उसकी महिमा भी बहुत अधिक है। हम ब्रह्मचर्य का महिमा गान नही कर सकते। जा

ब्रह्मचारी अकेला सारे ब्रह्माण्ड को हिला सकता है। अखड ब्रह्मचारी वह है जिसने अपनी समस्त इन्दियो को और मन को अपने अधीन बना लिया हो, जो इन्दियो और मन पर पूर्ण आधिपत्य रखता हो। इन्दिया जिसे फुसला नही सकती, मन जिसे विचलित नही कर सकता, ऐसा अखण्ड ब्रह्मचारी ब्रह्म का शीघ्र साक्षात्कार कर सकता है। अखड ब्रह्मचारी की शक्ति अजब गजब की होती है।

ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ

परमात्मा के प्रति विश्वास स्थिर क्यो नही रहता? यह प्रश्न अनेक व्यक्तियो के मस्तिष्क मे उत्पन्न होता है। इसका उत्तर ज्ञानी यह देते हैं कि आन्तरिक निर्बलता ही परमात्मा के प्रति विश्वास को स्थायी नही रहने देती। परमात्मा के पति विश्वास न होने के जो कारण हैं, उनमे से एक कारण है ब्रह्मचर्य का अभाव। जीवन मे यदि ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा हुई तो निस्न्देह ईश्वर के प्रति प्रगाढ श्रद्धाभाव स्थायी रह सकता है।

ज्ञानी जन कहते हैं—समस्त इन्द्रियो पर अकुश रखना और विषयभोग मे इन्दियो को प्रवृत्त न होने देना पूर्ण ब्रह्मचर्य है और वीर्य की रक्षा करना अपूर्ण ब्रह्मचर्य है। आज वीर्यरक्षा तक ही ब्रह्मचर्य की सीमा स्वीकार की जाती है पर वास्तव मे सब इन्द्रियो और मन को विषयो की ओर प्रवृत्त न होने देना पूर्ण ब्रह्मचर्य है। केवल वीर्यरक्षा अपूर्ण ब्रह्मचर्य है। अलबत्ता अपूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा पूर्ण ब्रह्मचर्य तक पहुचा जा सकता है।

वीर्य का दुरुपयोग

देश मे आज जो रोग, शोक, दरिदता आदि जहा–तहा दृष्टिगोचर होते हैं। उन सबका एकमात्र कारण वीर्यनाश है। आज बेकार वस्तु की तरह वीर्य का दुरुपयोग किया जा रहा है। लोग यह नही जानते कि वीर्य मे कितनी अधिक शक्ति विद्यमान हे। इसी कारण विषय–भोग मे वीर्य का नाश किया जा रहा है। उसी मे आनन्द माना जा रहा है। ऐसा करन स [illegible] अधिक सन्तान उत्पन्न होती है तो घबराहट पैदा होती है। पर उनस [illegible] त्यागते नही बनता। भारतीयो को इस प्रश्न पर गहरा विचार करना [illegible] विदेशी लोग ब्रह्मचर्य की महत्ता को भले ही न समझते हो या स्वीकार [illegible] हो परन्तु भारत मे तो ऐसे महान ब्रह्मचारी हो गये है जिन्होने [illegible] महान शक्ति प्राप्त कर जगत के समक्ष यह आदर्श उपस्थित कर दि[illegible]

[illegible]

ब्रह्मचर्य के प्रशस्त पथ पर चलने मे ही मानव समाज का कल्याण है। ब्रह्मचर्य ही कल्याण का मार्ग है। यह समझते–बूझते हुए भी विषय–भोग मे सुख मानना और जब सतान उत्पन्न हो तो उससे वचने के लिए उसका निरोध करने के लिये कृत्रिम उपाय काम मे लाना घोर अन्याय है। वीर्य को वृथा बर्बाद करने के समान दूसरा कोई अन्याय नहीं है।

हमारे अन्दर जो शाति और साहस है, वह वीर्य के ही प्रताप से है। अगर शरीर मे वीर्य न हो तो मनुष्य हलन–चलन, गमनागमन आदि क्रियाए करने मे भी समर्थ नही हो सकता।

ब्रह्मचर्य का महत्व

जो भाई–बहिन ब्रह्मचर्य का पालन करेगे वे ससार को अनमोल रत्न प्रदान करने मे समर्थ हो सकेगे। हनुमानजी का नाम कौन नही जानता? अलकारिक भाषा मे कहा जाता है कि उन्होने लक्ष्मणजी के लिए द्रोण पर्वत उठाया था। उसी पर्वत का एक टुकडा गिर पडा, जो गोवर्धन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अलकार का आवरण दूर कर दीजिये ओर विचार कीजिये तो इस कथन मे हनुमानजी की प्रचण्ड शक्ति का दिग्दर्शन आप पाएगे। हनुमानजी मे इतनी शक्ति कहा से आई? यह महारानी अजना ओर महाराज पवनजी की वारह वर्ष की अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना का प्रताप था। उनके ब्रह्मचर्य पालन न ससार को एक ऐसा उपहार ऐसा वरदान दिया, जो न केवल अपने समय मे ही अद्वितीय था, वरन् आज तक भी वह अद्वितीय समझा जाता हे ओर शक्ति की साधना के लिए उसकी पूजा भी की जाती है।

वहिना! अगर तुम्हारी हनुमान सरीखा शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न करने की साध हे ता अपने पति को कामुक वनाने वाल साज–सिगार ओर हाव–भाव त्याग कर स्वय ब्रह्मचर्य की साधना करो ओर पति को भी ब्रह्मचर्य पालन करन दा।

ब्रह्मचर्य ही जीवन है

मरण बिन्दुपातेन, जीवन बिन्दुधारणात्।

अपूर्ण ब्रह्मचर्य का प्रथम नियम

अपूर्ण ब्रह्मचर्य के दस नियमो मे पहिला नियम भावना है। माता–पिता को ऐसी भावना लानी चाहिए कि मेरा पुत्र वीर्यवान् और जगत् का कल्याण करने वाला बने। इस पकार की भावना से बहुत लाभ होता है। आप लोगो को अलग–अलग तरह के स्वप्न आते होगे। इसका कारण क्या है ? कारण यही है कि सब की भावना भिन्न–भिन्न पकार की होती है। यह बात प्राय सभी जानते है कि जैसी भावना होती है, वैसा स्वप्न आता है। इसी प्रकार सतान के विषय मे माता–पिता की भावना जैसी होती है, वैसी ही सन्तान बन जाती है। जिस पकार भावना से स्वप्न का निर्माण होता है, इसी प्रकार भावना से सतान के विचारो और कार्यो का निर्माण होता है। नीच विचार करने से खराब स्वप्न आता है और यही बात सतान के विषय मे भी समझनी चाहिये। सतान के विषय मे तुम जैसी भावना लाओगे आगे चलकर सतान वैसी ही बन जायेगी। अतएव सन्तान के लिए और अपने लिए ब्रह्मचर्य की भावना निरन्तर करनी चाहिये।

दूसरा नियम

ब्रह्मचर्य का दूसरा नियम भोजन–सम्बन्धी विवेक है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि जिस खानपान मे आनन्द आता है, वही भोजन अच्छा है, पर यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। ब्रह्मचारी के भोजन मे और अब्रह्मचारी के भोजन मे बडा अन्तर होता है। गीता मे रजोगुणी, तमोगुणी और सतोगुणी का भोजन अलग–अलग बताया है। पर आज के लोग जिह्वा के वशवर्ती बनकर भोजन के गुलाम हो रहे है। यदि तुम अपनी जीभ पर भी अकुश नही रख सकते तो तुम आगे किस प्रकार बढ सकोगे? विद्याभ्यास और शास्त्र–श्रवण का फल यही है कि बुरे कामो मे प्रवृत्ति न की जाय। आजकल खान–पान के सम्बन्ध मे बडी भयकर भूले हो रही है और हालत ऐसी जान पडती है मानो विद्याभ्यास का फल खानपान का भान भूल जाना ही हो।

विनाश के कारण

वीर्यनाश का एक कारण एक ही कमरे मे एक ही बिछौने पर स्त्री पुरुष का शयन करना भी है। एक ही कमरे मे और एक शय्या पर सोने से वीर्य स्थिर नही रह सकता। शास्त्र मे जहा स्त्री और पुरुष के शयन का वर्णन

मिलता है वहा ऐसा ही वर्णन मिलता है कि स्त्री और पुरुष अलग-अलग शयनागार-कमरो मे सोते थे। पर आज इस विषय मे नियम का पालन होता नजर नही आता। निष्क्रिय बैठे रहना भी वीर्यनाश का एक कारण हे। जो लोग अपने शरीर और मन को किसी सत्कार्य मे सलग्न नही रखते, उन लोगो का वीर्य भी स्थिर नहीं रह सकता। यदि शरीर और मन को निष्क्रिय न रखा जाय तो वीर्य को हानि नही पहुचती।

रात्रि मे देर तक जागरण करना, सूर्योदय के बाद भी सोते रहना और अश्लील साहित्य का पढना, ये सब भी वीर्यनाश के कारण हैं। अश्लील चित्र देखने से और अश्लील पुस्तके पढने से भी वीर्य स्थिर नही रहता। आज जहा- तहा अश्लील पुस्तके पढने और अश्लील ब्लू फिल्म चित्र देखने का प्रचार हो गया है। आजकल लोग महापुरुषो और महासतियो के जीवन-चरित्र पढने के बदले अश्लीलतापूर्ण पुस्तके पढने के शौकीन हो गये हैं। उन्हे यह विचार ही नही आता कि ऐसा करने से जीवन मे कितने विकार आ घुसे हैं। कहावत है कि-'जैसा वॉचन वैसा विचार।' इस कहावत के अनुसार अश्लील पुस्तको के पठन से लोगो के विचार भी अश्लील बनते जा रहे हैं।

नाटक-सिनेमा देखना भी वीर्यनाश का कारण है। आजकल नाटक-सिनेमा की धूम मची हुई है। जहॉ देखो वहॉ गरीब से लेकर अमीर तक-सबको-नाटक सिनेमाओ मे फॅसाने का प्रयत्न किया जा रहा हे और इस प्रकार सिनेमा वीर्यनाश के साधक बन रहे हैं।

सिनेमा और ग्रामोफोन

आजकल के सिनेमा तो नैतिकता से इतने पतित और निर्लज्जतापूर्ण होते सुने जाते हैं कि कोई भलामानुस अपने बाल-बच्चो के साथ उन्हे देख ही नही सकता। सिनमाओ के कारण आज लाखो नवयुवक आचरणहीन बन रहे हे। इन सिनेमाओ की बदोलत भारतीय नारी अपनी महत्ता का विस्मरण कर भारतीय सभ्यता के मूल मे कुठाराघात कर रही हे। यह अत्यन्त खेद की बात हे। इसी प्रकार ग्रामोफोन को भी आनन्द का साधन समझा जाता है पर उसके द्वारा ससार मे कितनी बुराइया घुस रही हैं इस ओर कितने लोगो का ध्यान जाता है?

बचते रहना चाहिये। मस्तिष्क मे कुविचारो का अकुर उत्पन्न करने वाले साहित्य को हाथ भी नही लगाना चाहिए। जो पुस्तके धर्म, देश–भक्ति की भावना जागृत करने वाली हो और चरित्र को सुधारने वाली हो उनमे सरकार राजनीति की गध सूघती है और उन्हे जब्त कर लेती है। पर जिन पुस्तको ऐसा गदा और घासलेटी साहित्य बढता है, जो प्रजा का सर्वनाश कर रही है उनकी ओर से सरकार सर्वथा उदासीन रहती है। यह कैसी भाग्यविडम्बना है?

वीर्य की महिमा

स्वप्न दोष मे भी वीर्य का नाश होता है। कुछ लोग कहा करते हैं कि वीर्य रक्षा से स्वप्न दोष होता है पर यह कथन भ्रमपूर्ण है। इस भ्रामक विचार का परित्याग करके, स्वप्नदोष के असली कारण का पता लगाना चाहिये। फिर उस कारण से बचकर दोष–निवारण का प्रयत्न करना चाहिये। जब तुम सो रहे हो तब तुम्हारी जेब मे से अगर कोई रत्न निकाल कर ले जाने लगे और उस समय तुम जाग जाओ तो ऑखो देखते क्या रत्न ले जाने दोगे? नही, तो फिर स्वप्नदोष के कारण जान–बूझ कर वीर्य को नष्ट होने देना कहॉ तक उचित कहा जा सकता है?

ब्रह्मचर्य और रसनानिग्रह

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये, साथ ही स्वास्थ्य की रक्षा के लिये जिह्वा पर अकुश रखने की बहुत आवश्यकता है। जिह्वा पर अकुश न रखने से अनेक प्रकार की हानियॉ होती है। इससे विपरीत जो मनुष्य अपनी जिह्वा पर काबू रखता है उसे प्राय वैद्यो और डाक्टरो के द्वार पर भटकने, चक्कर काटने की आवश्यकता नही रहती।

अनेक लोग ऐसे है जिनके लिये जीवन की अपेक्षा भोजन अधिक महत्त्व की वस्तु है। वे जीने के लिए नही खाते पर खाने के लिए जीते हे। भले ही कोई सीधी तरह इस बात को स्वीकार न करे मगर उसके भोजन–व्यवहार को देखने से यह सत्य साफ तौर से प्रगट हुए बिना नही रहेगा। यही कारण है कि अधिकाश लोग जीवन के शुभ–अशुभ की कसौटी पर भोजन की परख नही करते। वे जिह्वा को कसोटी बनाकर भोजन की अच्छाई–बुराई की जॉच करते है। जो जीवन की दृष्टि से भोजन करता हे वह स्वास्थ्य–नाशक और जीवन को भ्रष्ट करने वाला भोजन कैसे कर सकता हे? कुशल

मनुष्य अज्ञात व्यक्ति को सहसा अपने घर मे स्थान नही देता। तब जिस भोजन के गुण–दोष का पता न हो उसे पेट मे स्थान देना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है? जो ऐसे भोजन को पेट मे ठूँस लेता है, उसके पेट को भोजन–पिटारे के सिवा और क्या कहा जा सकता है?

एक विद्वान् का कथन है कि दुनिया मे जितने आदमी खाने–पीने से मरते हैं, उतने खाने–पीने के अभाव मे नही मरते। लोग पहले तो ठूँस–ठूँस कर खाते हैं, फिर डाक्टर की शरण लेते हैं। आज जो आदमी जितनी अधिक चीजे अपने भोजन मे समाविष्ट करता है वह उतना ही बडा आदमी गिना जाता है मगर शास्त्र का आदेश यह है कि जो जितना महान् त्यागी है वह उतना ही महान् पुरुष है। शास्त्र मे आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि बारह करोड स्वर्ण मोहरो का और चालीस हजार गायो का धनी होने पर भी उसने अपने खाने–पीने के लिए कुछ गिनती की चीजो की ही मर्यादा कर ली थी। इस प्रकार खान–पान के विषय मे जो जितना सयम रखता है वह उतना ही महान् है। जिह्वा–सयम से स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है। नागरिको को जितना और जैसा भोजन मिलता है उतना और वैसा किसानो को नही। फिर भी अगर दोनो की कुश्ती हो तो किसान ही विजयी होगा। यह कौन नही जानता कि सभ्य और बडे कहलाने वाले लोगो की अपेक्षा किसान अधिक स्वस्थ और सबल होता है। इसका एक कारण सादा और सात्विक भोजन है।

इस प्रकार अधिक भोजन करने से स्वास्थ्य सुधरने की जगह बिगडता है। विकृत भोजन करने से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है और चरित्र को भी। इसी कारण (विगय) भोजन करने का शास्त्र मे निषेध किया गया है।

ब्रह्मचर्य का भोजन के साथ घनिष्ठ सबध है। भोगी का भोजन और योगी का भोजन एक–सा नही हो सकता। ब्रह्मचर्य की साधना करने वालो को ऐसा और इतना ही भोजन करना चाहिए जिससे शरीर की रक्षा हो सके और जो ब्रह्मचर्य मे बाधक न होकर साधक हो। अधिक गरिष्ठ, तेज मसालेदार और परिमाण से अधिक भोजन स्वास्थ्य के लिए सर्वथा [illegible] है।

भयकर अनर्थ होगे और उन अनर्थो की परम्परा का सामना करना सहज नही होगा।

यद्यपि आजकल भी अनेक लोग है, जिनकी यह भ्रान्त धारणा हो गई है कि मनुष्य कामभोग की वासना पर विजय नही प्राप्त कर सकता। सभवत वे लोग मनुष्य को काम–वासना का कीडा समझते है। पर प्राचीन आर्य–ऋषियो का अनुभव इस धारणा का विरोध करता है। कोई व्यक्ति विशेष ब्रह्मचर्य का पालन करने मे असमर्थ रहे यह बात अलग है और यह कहना कि ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करना सभव नही हे, दूसरी बात है। किसी व्यक्ति की असमर्थता के आधार पर किसी व्यापक सिद्धान्त का निर्माण कर बैठना, सचाई के साथ अन्याय करना है। इस प्रकार असमर्थता की ओट मे विषयभोगो का प्रचार करना सर्वथा अनुचित है।

आज भी ससार मे ऐसे व्यक्तियो का मिलना असभव नही है जो बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जन–सेवा कर रहे है। फिर भीष्म और भगवान् नेमीनाथ जैसे पवित्र ब्रह्मचारियो का उच्च आदर्श जिन्हे मार्ग–प्रदर्शन कर रहा हो, उन भारतवासियो के हृदय मे न जाने यह भूत कैसे घुस गया है कि विषय–वासना पर काबू रखना शक्य नही है। साधु हुए बिना ब्रह्मचर्य का पालन हो ही नही सकता और गृहस्थ जीवन मे ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान एकदम अशक्यानुष्ठान है। वास्तव मे यह धारणा सर्वथा भ्रमपूर्ण है। मनोबल दृढ होने पर पूर्ण या नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता हे। यही नही वरन् विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थ जीवन मे भी ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य पालने से किसी भी प्रकार की हानि की सम्भावना नही हे। यही नही किन्तु अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। कहा भी हे –

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाया वीर्यलाभ ।

कुछ महानुभावो ने एक नये सिद्धान्त का आविष्कार किया है। उनकी अनोखी सी समझ यह है कि ब्रह्मचर्य का पालन करने से शरीर मे रोग उत्पन्न होते हे। पर न तो आज तक यह सुना गया है कि ब्रह्मचर्य–पालन से किसी को किसी रोग का शिकार होना पडा है और न ऐसा कोई उदाहरण ही देखा गया है। हॉ, ठीक इससे उल्टे जो लोग विषयी होते हे वे ही रोगो द्वारा सताये जाते हे। यह बात तो प्रत्यक्ष दिखाई देती हे। अतएव अपन हृदय से इस भ्रान्ति को निकाल फेको कि ब्रह्मचर्य से रोग पेदा होते हे। ब्रह्मचर्य

जीवन है। उससे शक्ति का विकास होता है। जहाँ शक्ति है वहाँ रोगो का आक्रमण नही होता। अशक्त और दुर्बल पुरुष ही रोगो द्वारा सताये जाते है।

खेद है कि लोगो के मन मे यह भ्रम उत्पन्न हो गया है कि विषय–भोग की इच्छा का दमन करना अशक्य है। परन्तु जैसे नेपोलियन ने असम्भव शब्द कोश मे से निकाल डालने को कहा था, उसी प्रकार तुम अपने हृदय म से कामभोग की इच्छा का दमन करने की असम्भवता को निकाल कर बाहर करो। ऐसा करने से तुम्हारा मनोबल सुदृढ बनेगा और तब विषय–भोग की कामना पर विजय प्राप्त करना तनिक भी कठिन न होगा।

त्रिविध ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त

ब्रह्मचर्य' एक ही शब्द नही है, किन्तु 'ब्रह्म' शब्द मे 'चर्य' कृत प्रत्यान्त से बना हुआ सस्कृत शब्द है। ब्रह्म+चर्य= ब्रह्मचर्य। 'ब्रह्म' शब्द के वैसे तो कई अर्थ होते है, परन्तु यहाँ यह शब्द वीर्य, विद्या और आत्मा के अर्थ मे है। चर्य' का अर्थ रक्षण अध्ययन तथा चिन्तन है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ वीर्यरक्षा विद्याध्ययन और आत्म–चिन्तन है। 'ब्रह्म' का अर्थ उत्तम काम या कुशलानुष्ठान भी होता है इसलिये ब्रह्मचर्य का अर्थ उत्तम या कुशलानुष्ठान आचरण भी है। ब्रह्मचर्य शब्द के इन अर्थो पर दृष्टिपात करने से हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि जिस आचरण द्वारा आत्म–चिन्तन हो आत्मा अपने आप को पहचान सके और अपने लिये वास्तविक सुख प्राप्त कर सके, उस आचरण का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। इस अर्थ मे ब्रह्मचर्य शब्द के ऊपर कहे हुए सब ही अर्थ आ जाते है।

ब्रह्मचर्य की परिभाषा

आत्मचिन्तन के लिये, इन्द्रियो और मन पर विजय पाना आवश्यक है। प्राकृतिक नियमो के अनुसार, इन्द्रियाँ मन के मन बुद्धि के, बुद्धि आत्मा के अधीन एव आत्मा की सहायिका होनी चाहिये। ऐसा होने पर ही आत्मा अपने आप को जान सकता है इद्रियाँ मन और बुद्धि का कर्त्तव्य आत्मा को बलवान तथा पुष्ट बनाना है। बलवान् आत्मा ही अपना स्वरूप जान सकता है विद्याध्ययन मे समर्थ हो सकता है और उत्तम काम तथा कुशलानुष्ठान कर सकता है। इसलिये इद्रियो मन और बुद्धि का काम आत्मा को बलवान बनाना आत्मा के हित को दृष्टि मे रखना आत्मा का अहित करने वाले कामो से दूर रहना है। इन्द्रियो और मन का अपने इस कर्त्तव्य पर स्थिर रहने का नाम ही ब्रह्मचर्य है।

आत्मा का हित अपना स्वरूप जानने मे हे। आत्मा, अपना स्वरूप तभी जान सकता है, जब उसके सहायक एव सेवक इन्द्रियॉ तथा मन, उसके आज्ञावर्ती और शुभचिन्तक हो। विपरीतावस्था मे आत्मा का अहित स्वाभाविक ही है। आत्मा के सहायक तथा सेवक वही इद्रियॉ ओर मन हें, जो सुख की अभिलाषा से दुर्विषयो की ओर न दोडे। इद्रियो का सुख की अभिलाषा से दुर्विषयो की ओर दोडना, तथा मन का इन्द्रियानुगामी होना आत्मा के लिए अहित–कारक है। आत्मा का हित तभी हे, जब न तो इन्द्रियॉ दुर्विषयो की ओर दोडे और न इद्रियो के साथ ही साथ मन भी आत्मा का अशुभ–चिन्तक बने। इद्रियो ओर मन का दुर्विषयो की ओर न दोडना, दुर्विषयो की चाह न करना और सुख की लालसा से उन्हे न भोगना ही ब्रह्मचर्य हे।'

इन्द्रियॉ पॉच हं, कान, ऑख, नाक, जीभ ओर त्वचा। इन पॉचो इन्द्रियो के पॉच विषय हैं, शब्द, रूप, गन्ध, रस ओर स्पर्श अर्थात् सुनना, देखना सूँघना, स्वाद लेना ओर छूना। यद्यपि ये इन्द्रियॉ हें सुनने देखने सूँघने, स्वाद लेने ओर स्पर्श करने के लिये ही–इसी कारण इनका नाम ज्ञानेन्द्रियॉ भी हें–लेकिन ये ज्ञानेन्द्रियॉ तभी होती हैं ओर तभी आत्मा का हित भी कर सकती हें, जब दुर्विषयो मे लिप्त न हो उनके भोग मे सुख न मान ओर अपने आप को दुर्विषय–भोग के लिये न समझे। इसी प्रकार मन भी आत्मा का हित करने वाला तभी हे जब वह अपने पद से भ्रष्ट होकर इन्द्रिया का अनुगामी न वन जाव ओर न इन्द्रिया को दुर्विषया की ओर जान दे मन का काम इन्द्रिया का सुख दना नही किन्तु आत्मा को सुख दना है ओर इन्द्रिया का भी उन्ही कामा म लगाना हे जिनरो आत्मा सुखी हा। इन्द्रिया आर मन का इस कर्त्तव्य का समझ कर इरा पर स्थिर रहना, इसी का नाम ब्रह्मचर्य ह।

गाधीजी कृत ब्रह्मचर्य की परिभाषा

[illegible] न ब्रह्मचर्य क अर्थ म लिखा हे– ब्रह्मचर्य का अर्थ हे सभी इन्द्रिया [illegible] विकारा पर पूर्ण अधिकार कर लना। सभी इन्द्रिया का [illegible] सब समय ओर सब क्षेत्रा म सयम करना का ब्रह्मचर्य [illegible]

जाता है। इस व्यावहारिक अर्थ–अर्थात् पूर्ण रूपेण वीर्यरक्षा–से भी इन्दियो और मन का दुर्विषयो की ओर न दौडना ही मतलब निकलेगा। पूर्णतया वीर्यरक्षा तभी हो सकती है, जब सभी इन्दियॉ और मन दुर्विषयो की ओर न दोडे। यदि एक भी इन्दिय दुर्विषय की ओर दौडती है–उसे चाहती है और उसमे सुख भी मानती है–तो सम्पूर्णतया वीर्यरक्षा कदापि नही हो सकती। इसलिये, पूर्ण रीति से वीर्यरक्षा का अर्थ भी वही है, जो ऊपर कहा गया है अर्थात् सर्वप्रकार के असयम परित्याग रूप–इन्दियो और मन का सयम।

ब्रह्मचर्य के तीन भेद और उनका सम्बन्ध

ब्रह्मचर्य मन, वचन और शरीर से होता है, इसलिए ब्रह्मचर्य के तीन भेद होते है अर्थात् मानसिकब्रह्मचर्य, वाचिकब्रह्मचर्य और शारीरिकब्रह्मचर्य। मन वचन और काय इन तीनो द्वारा पालन किया गया ब्रह्मचर्य ही पूर्ण ब्रह्मचर्य है अर्थात् न मन मे ही अब्रह्मचर्य की भावना हो, न वचन द्वारा ही अब्रह्मचर्य प्रगट हो और न शरीर द्वारा ही अब्रह्मचर्य की क्रिया की गई हो इसका नाम पूर्ण ब्रह्मचर्य है। याज्ञवल्क्य स्मृति मे कहा है –

कायेन मनसा वाचा, सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्य प्रचक्षते।।

शरीर मन और वचन से सब अवस्थाओ मे सर्वदा और सर्वत्र मैथुन त्याग को ब्रह्मचर्य कहा है।

मैथुन मे मैथुनाङ्ग भी शामिल है जिनका वर्णन आगे ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय प्रकरण मे किया जायगा।

कायिक ब्रह्मचर्य उसे कहते है। जिसके सद्भाव मे शरीर द्वारा अब्रह्मचर्य की कोई क्रिया न की गई हो अर्थात् शरीर से अब्रह्मचर्य मे प्रवृत्ति न हुई हो। मानसिक ब्रह्मचर्य उसे कहते है जिसके सद्भाव मे दुर्विषयो का चिन्तन न किया जावे, अर्थात् मन मे अब्रह्मचर्य की भावना भी न हो। वाचिकब्रह्मचर्य उसे कहते है जिसके सद्भाव मे अब्रह्मचर्य सम्बन्धी वचन न कहा जावे। इन तीनो प्रकार के ब्रह्मचर्य के सद्भाव को पूर्ण ब्रह्मचर्य कहते है।

कायिक मानसिक और वाचिक ब्रह्मचर्य का परस्पर कर्त्ता क्रिया और कर्म का सा सम्बन्ध है। पूर्ण ब्रह्मचर्य वही हो सकता है जहॉ उक्त प्रकार

के तीनो ब्रह्मचर्य का सद्‌भाव हो। एक के अभाव मे दूसरे ओर तीसरे का—एकदम से नही तो शनै शनै —अभाव स्वामाविक है।

सारांश यह कि इन्द्रियो का दुर्विषयो से निवृत्त होने, मन का दुर्विषयो की भावना न करने, दुर्विषयो से उदासीन रहने, मैथुनाङ्गो सहित सब प्रकार के मैथुन त्यागने और पूर्ण रीति से, वीर्यरक्षा करने एव कायिक, वाचिक और मानसिक शक्ति को आत्मचिन्तन, आत्महित – साधन, तथा आत्मविद्याध्ययन मे लगा देने का ही नाम 'ब्रह्मचर्य है।

लाभ और माहात्म्य

तबेसु वा उत्तम बभचेर।

—सूत्रकताग सूत्र।

'ब्रह्मचर्य ही उत्तम तप है।'

ब्रह्मचर्य से क्या लाभ होता है, और ब्रह्मचर्य का कैसा माहात्मम्य है, यह सक्षिप्त मे नीचे बताया जाता है।

शरीर और धर्म का सम्बन्ध

आत्मा का ध्येय ससार के जन्म—मरण से छूट कर, मोक्ष प्राप्त करना हे। आत्मा इस ध्येय को तभी प्राप्त कर सकता है, जब उसे शरीर की सहायता हो—अर्थात् शरीर स्वस्थ हो। बिना शरीर के धर्म नही हो सकता और बिना धर्म के आत्मा अपने उक्त ध्येय तक नही पहुँच सकता। काव्य ग्रन्थो मे कहा है –

शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।

—कुमारसम्भव।

शरीर ही सब धर्मो का प्रथम और उत्तम साधन हे।'

धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्य मूलमुत्तमम्।

धर्म, अर्थ काम ओर मोक्ष का आरोग्य ही मूल साधन है।

ब्रह्मचर्य से शारीरिक स्वस्थता

आत्मा को अपने ध्येय तक पहुँचने के लिये शरीर की आवश्यकता है ओर वह भी आरोग्यता के साथ। अस्वस्थ शरीर धर्म—साधन मे असमर्थ रहता है। ब्रह्मचर्य से इस अग की पूर्ति होती हे अर्थात शरीर स्वस्थ रह है कोई रोग पास भी नही फटकने पाता।

वैद्यक ग्रन्थो मे ब्रह्मचर्य से शारीरिक लाभ बताते हुए कहा है –

मृत्यु व्याधि जरानाशी, पीयूष परमौषधम्।
ब्रह्मचर्य महायत्न, सत्यमेव वदाम्यहम्।।

'मैं सत्य कहता हूँ कि मृत्यु, व्याधि और बुढापे का नाश करने वाली अमृत के समान औषध ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य मृत्यु रोग ओर बुढापे का नाश करने वाला महान् यत्न है।'

ब्रह्मचर्य से धर्म–रक्षा

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य से शरीर स्वस्थ रहता है, जिससे धर्म का पालन होता है। इतना ही नही, किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन करना भी धर्म ही है। यह धर्म का प्रधान अग एव धर्म का प्रधान रक्षक हे। इसके लिये प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है –

पउमसर तलाग पालिभूय, महासगढअरगतु बभूय, महानगर पागारक बाड फलिह भूय, रज्जु– पिणद्धोव्व इदकेऊ, विसुद्धगेण गुण सपिणद्ध, जम्मि य भग्गम्मि होइ सहसा सव्व सभग्ग महिय चुणिय कुसल्लिय पलट्ट पडियखडिय परिस– डिय विणासिय विणय सील तवनियम गुण समूह।

ब्रह्मचर्य धर्म रूप पद्मसरोवर का पाल के समान रक्षक हे। यह दया, क्षमा आदि गुणो का आधारभूत, एव धर्म की शाखाओ का आधारस्तम्भ हे। ब्रह्मचर्य धर्म रूप महानगर का कोट हे, ओर धर्म रूप महानगर का प्रधान रक्षक–द्वार हे। ब्रह्मचर्य के खण्डित होने पर सभी प्रकार क धर्म पहाड स गिरे हुए कच्चे घडे के समान चूर–चूर हो जाते हे।'

ब्रह्मचर्य धर्म का केसा आवश्यक अग हे, यह बताते हुए और ब्रह्मचर्य की प्रशसा करते हुए एक मुनि न कहा ह –

पच महव्वय–सुव्वय मूल समण मणाइल साहु सुचिण्ण।
वेर विरामण पज्जवसाण सव्व समुद्द महोदहि तित्थ।।1।।
तित्थकरेहि सदेसिय मग्ग नरग तिरिच्छ विवज्जिय मग्ग।

सुव्रतो का भी ब्रह्मचर्य मूल है। ब्रह्मचर्य दोष रहित है, साधुजनो द्वारा भलीभॉति पालन किया गया है, वैरानुबन्ध का अन्त करने वाला है और स्वयभू रमण महोदधि के समान दुस्तर ससार से तरने का उपाय है।

ब्रह्मचर्य तीर्थङ्करो द्वारा सदुपदेशित है, उन्ही के द्वारा इसके पालन का मार्ग बताया गया है और इसके उपदेश द्वारा नरक गति तथा तिर्यक् गति का मार्ग रोक कर सिद्ध गति तथा विमानो के द्वार खोलने का पवित्र मार्ग बताया गया है।

यह ब्रह्मचर्य देवेन्द और नरेन्दो से पूजित लोगो के लिए भी पूजनीय है, समस्त लोको मे सर्वोत्तम मगल का मार्ग है। सब गुणो का अद्वितीय तथा सर्वश्रेष्ठ नायक है और मोक्ष–मार्ग का भूषण रूप है।

ब्रह्मचर्य ही तप है

मोक्ष के प्रधान साधन–तप मे भी ब्रह्मचर्य को पहला स्थान है। जैन–शास्त्रो मे ब्रह्मचर्य सब से उत्तम तप माना गया है। इसका एक प्रमाण इस प्रकरण के प्रारम्भ मे दिया जा चुका है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे भी कहा है –

जबू! एत्तो य बभचेर तव–नियम–नाण दसण चरित्त–सम्मत्तविणय मूल, यम–नियम–गुण प्पहाण जुत्त, हिमवत महत तेयमत पसत्थ गभीर थिमियमज्झ।

हे जम्बू ! यह ब्रह्मचर्य उत्तम तप नियम, ज्ञान दर्शन चरित्र सम्यक्त्व और विनय का मूल है। जिस प्रकार सब पर्वतो मे हिमालय महान और तेजस्वी है उसी प्रकार सब तपस्याओ मे ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है।

अन्य ग्रन्थो मे भी ब्रह्मचर्य को उत्तम तप माना गया है। वेद भी ब्रह्मचर्य को ही तप मानते है। जैसे –

तपो वै ब्रह्मचर्यम्।

ब्रह्मचर्य ही तप है।

गीता मे भी ब्रह्मचर्य को तप माना है। उसमे कहा है –

ब्रह्मचर्यमहिसा च, शारीर तप उच्यते।

अर्थात–ब्रह्मचर्य और अहिसा शरीर का उत्तम तप है।

इस पकार अन्य ग्रन्थकारो ने भी ब्रह्मचर्य को उत्तम तप माना है।

ब्रह्मचर्य से पारलौकिक लाभ

पारलोकिक लाभ का ब्रह्मचर्य एक प्रधान साधन हे। ब्रह्मचर्य से आत्मा परलोक सम्बन्धी सभी सुखो को प्राप्त कर सकता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है –

अज्जव साहु जणाचरिय मोक्ख मग्ग विसुद्ध सिद्धि गइ–निलय सासयमव्वावाह मपुणब्भव पसत्थ सोम सुभ सिवम– मक्खयकर। जइवर सारक्खिखय सुचरिय सुभासिय नवरि–मुणिवरेहि महापुरिस धीर सूर धम्मिय–धिइमताण य सया विशुद्ध भव्व भव्वजणाणु चिण्ण निस्सकिय निब्भय नित्तुस निरायास।

'ब्रह्मचर्य अन्त करण को पवित्र एव स्थिर रखने वाला है, साधुजनो से सेवित है, मोक्ष का मार्ग हे और सिद्धगति का गृह हे, शाश्वत है बाधारहित हे, पुनर्जन्म को नष्ट करने के कारण अपुनर्भव है, प्रशस्त है, रागादि का अभाव करने से सोम्य है सुख–स्वरूप होने से शिव हे दु ख–सुखादि द्वन्द्वो से रहित होने से अचल हे अक्षय तथा अक्षत है, मुनियो द्वारा सुरक्षित एव प्रचारित है भव्य हे, भव्य–जनो द्वारा आचरित है, शङ्का–रहित हे निर्भयता का देने वाला हे, विशुद्ध तथा झझटो से दूर रखने वाला एव खेद ओर अभिमान का नष्ट करने वाला हे।

प्रश्नव्याकरण सूत्र मे आगे कहा हे –

जम्मि य आराहियम्मि आराहिय वयमिण सव्व। सील तवो य विणओ य सजमो य खत्ती गुत्ती मुत्ती तहेव इहलोइय पारलोइय जसो य कित्ती य पच्चओ य।

ब्रह्मचर्य की आराधना से सभी व्रत आराधित होते हे। तप, शील विनय सयम क्षमा गुप्ति ओर मुक्ति सिद्ध होती हे तथा इस लोक और परलोक मे यश–कीर्ति की विजय–पताका फहराती है।

अन्य ग्रन्थकार भी ब्रह्मचर्य से परलोक सम्बन्धी लाभ बताते हुए कहते है –

समुद्र तरणे यद्वत उपायो नौ प्रकीर्तिता।
ससार तरणे यद्वत् ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम्।।

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव।

छान्दोग्योपनिषद्।

जिसे यज्ञ कहते है वह ब्रह्मचर्य ही है।

ससार–बन्धन से छूट कर, मोक्ष–पाप्ति के लिये चारित्र धर्म बताते हुऐ भगवान् ने जिन पॉच महावतो का उपदेश दिया है, उनमे से ब्रह्मचर्य चौथा महावत है। ब्रह्मचर्य के बिन चारित्र–धर्म का पूर्ण–रूपेण पालन नही हो सकता। आत्मा को ससार–बन्धन से छुडा कर मोक्ष दिलाने वाले चारित्र–धर्म का ब्रह्मचर्य एक पधान और आवश्यक अग है। ब्रह्मचर्य के बिना न तो अब तक कोई मुक्त हुआ ही है, न हो ही सकता है। सिद्धात्माओ को सिद्ध गति पाप्त कराने वाला यह ब्रह्मचर्य ही है। इस पकार पारलौकिक लाभ का ब्रह्मचर्य एक पधान साधन है।

ब्रह्मचर्य से इहलौकिक लाभ

ब्रह्मचर्य से पारलौकिक ही नही, किन्तु इह–लौकिक लाभ भी हे। ऊपर बताया जा चुका है कि ब्रह्मचर्य से स्वास्थ्य अच्छा रहता है। स्वास्थ्य अच्छा रहने से ही इह–लौकिक कार्य सुचारु–रूप से सम्पादन हो सकते हे।

सासारिक–जीवन म शरीर स्वस्थ, सुन्दर बलवान् एव चिरायु रहने की विद्या की धन की कर्त्तव्य–दृढता की और यशादि की अभिलाषाए पूर्ण होती है। पसिद्ध जैनाचार्य श्री हेमचन्द सूरि ने ब्रह्मचर्य की प्रशसा करते हुऐ कहा है –

चिरायुष सुसस्थाना दृढसहनना नरा।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यत।।

ब्रह्मचर्य से शरीर चिरायु, सुन्दर दृढ कर्त्तव्य तेज–पूर्ण और पराक्रमी होता है।

वैद्यक ग्रन्थो मे भी कहा गया हे –

ब्रह्मचर्य पर ज्ञान ब्रह्मचर्य पर बल।
ब्रह्मचर्यमयो ह्यात्मा ब्रह्मचर्यैव तिष्ठति।।

ब्रह्मचर्य ही सब से उत्तम ज्ञान है अपरिमित बल हे यह आत्मा निश्चय रूप से ब्रह्मचर्यमय है और ब्रह्मचर्य से ही शरीर मे ठहरा हुआ ह।

इन प्रमाणो से यह बात भली–भॉति सिद्ध हो जाती ह कि ब्रह्मचर्य से शरीर सुन्दर भी रहता हे बलवान भी रहता है दीर्घजीवी भी होता हे और यश–कीर्ति भी प्राप्त होती है। इस पकार ब्रह्मचर्य इहलौकिक सुखो का भी

साधन है। लौकिक वैभव, विद्या, धन आदि तभी प्राप्त होते हैं, जब शरीर स्वस्थ हो और उसमे बल तथा साहस हो। ब्रह्मचर्य से शरीर स्वस्थ रहता है और शरीर मे बल तथा साहस भी रहता है।

विद्वानो का मत हे कि ब्रह्मचर्य के बिना विद्या प्राप्त नही होती। विद्या–प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य का होना आवश्यक है। अथर्ववेद मे कहा है –

ब्रह्मचर्येण विद्या।

'ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्त होती है।'

विदुर नीति मे कहा है –

विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात् ।

'यदि विद्या के इच्छुक हो तो ब्रह्मचारी बनो।

तात्पर्य यह कि ब्रह्मचर्य लौकिक और लोकोत्तर दोनों ही सुखो का साधन है। इसकी पूर्ण–रूपेण प्रशसा करना तो समुद्र को हाथो के सहारे तैरने का साहस करना है।

ब्रह्मचर्य पर अपवाद

कुछ लोगो का कथन हे कि पूर्ण ब्रह्मचारी को मोक्ष या स्वर्ग प्राप्त नही होता। क्योकि पूर्ण ब्रह्मचारी नि सन्तान रहते हैं और –

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नेव च नैव च।

सूक्ति।

'पुत्रहीन की गति नहीं होती ओर स्वर्ग तो कभी भी नही मिलता है।

इस श्लोक से पूर्ण ब्रह्मचारी को स्वर्ग–मोक्ष प्राप्ति से वचित बताया जाता है लेकिन इस श्लोक को खण्डन करने वाला दूसरा यह प्रमाण भी है –

स्वर्गे गच्छन्ति ते सर्वे, ये केचिद् ब्रह्मचारिण ।

जितने भी ब्रह्मचारी है वे सब स्वर्ग को जाते हैं।

और भी कहा है कि –

अनेकानि सहस्राणि कुमार ब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि राजेन्द्र अकृत्वा कुल सन्ततिम्।।

होता, तो जैन–शास्त्र इसे धर्म का अग न मानते। क्योकि जैन–शास्त्र उसी वस्तु को उपयोगी और महत्त्व की मानते है, जिसके द्वारा मोक्ष प्राप्त हो। लेकिन उक्त प्रमाण जिन ग्रन्थो के है, वे ग्रन्थ स्वर्ग को ही अन्तिम ध्येय मानते है। फिर भी ऊपर दिये हुए श्लोको मे से पहला श्लोक दूसरे श्लोक से अप्रामाणिक ठहरता है।

अब्रह्मचर्य से हानि

जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे।।

उत्तराध्ययन सूत्र 32 वा अ

'जिस प्रकार, किंपाकफल वर्ण और रस से मनोरम और स्वादिष्ट होते है, परन्तु खाने पर मृत्यु का आलिंगन करना पडता है, उसी प्रकार काम-भोग भोगने मे तो अच्छे लगते हैं परन्तु उनका परिणाम बहुत दु खदायी होता है। इसलिये काम-भोग को त्यागो।

इन्द्रियो का दुर्विषय-लोलुप न होने और वीर्य का पूर्णरूपेण सुरक्षित रहने का नाम ही ब्रह्मचर्य है। इसके विपरीत अर्थात् इंद्रियो का दुर्विषय-लोलुप होने दुर्विषय-भोग मे सुख मानने और वीर्य खण्डित करने का नाम अब्रह्मचर्य है इसका दूसरा नाम मैथुन भी है। लेकिन मैथुन मे मैथुनाङ्ग भी शामिल हैं। ग्रन्थकारो ने ब्रह्मचर्य का रूप बताने के लिये मैथुन की व्याख्या इस प्रकार की है –

स्मरण कीर्तन केलि प्रेक्षण गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।।
एतन्मैथुनमष्टांग प्रवदन्ति मनीषिण ।
विपरीत ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्।।

स्मरण कीर्तन केलि अवलोकन गुप्त भाषण संकल्प अध्यवसाय और क्रिया-निष्पत्ति ये मैथुन के आठ अंग है। इन लक्षणो से परे रहने का नाम ब्रह्मचर्य है।

मैथुन का तीसरा अग है। काम दृष्टि से किसी स्त्री को देखना, प्रेक्षण' मैथुन का चोथा अग है। स्त्रियो से छिप कर बाते करना गुह्य भाषण' पॉचवा अग है। स्त्री सम्बन्धी भोग भोगने का विचार लाना 'सकल्प मैथुन का छठा अग है। स्त्री–प्राप्ति की चेष्टा करना अध्यवसाय' नाम का सातवॉ और स्त्री सम्भोग द्वारा वीर्य नष्ट करना क्रियानिष्पत्ति मैथुन का आठवॉ अग है।

ब्रह्मचर्य के विरोधी अब्रह्मचर्य–मैथुन के उक्त आठ अगो मे से जिस–जिस अग की पूर्ति होती जाती है, ब्रह्मचर्य, उतने ही उतने अश मे नष्ट होता जाता है और मैथुन के आठो अगो की पूर्ति होने पर, पूर्ण रूपेण नष्ट हो जाता है। मैथुन और ब्रह्मचर्य, परस्पर विरोधी है, इसलिए जहॉ एक है, वहॉ दूसरा नही ठहर पाता।

मैथुन और मैथुनाग का नाम ही अब्रह्मचर्य है। वीर्य भी मैथुन से ही नष्ट होता है। इन्द्रियो का दुर्विषय–लोलुप होना ही मैथुन है और मैथुन ही इन्द्रियो की दुर्विषय–लोलुपता है।

आशिक मैथुन सेवन से हानि

मेथुन के किसी भी एक अग के सेवन से अर्थात् आशिक रूप मे ब्रह्मचर्य खण्डित होने से मेथुन का सर्वाड्ग मे सेवन और ब्रह्मचर्य का नाश होना स्वाभाविक है। क्योकि मैथुन के किसी भी एक अग के सेवन से एक न एक इन्द्रिय दुर्विषय–लोलुप बनेगी ही और किसी भी एक इन्द्रिय के दुर्विषय–लोलुप बन जाने पर सभी इन्द्रियॉ दुर्विषय–लोलुप बन जाती हे। उदाहरण के लिये, यदि कान स्त्री–शब्द मे सुख मानते हे, तो नाक, उनके शरीर की गध मे, जीभ उनसे सभाषण करने मे नेत्र उनका रूप देखने मे ओर त्वचा उनका स्पर्श करने मे सुख मानेगी। क्योकि –

इन्द्रियाणा तु सर्वेषा यद्येक क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा, दृते पादादिवोदकम्।।

मनुस्मृति अ 2

जिस प्रकार जल की मशक मे एक भी छेद हो जाने पर फिर उसम जल नही ठहरता उसी प्रकार सब इदियो मे से एक भी इन्द्रिय के विषय–लोलुप बनने पर बुद्धि नष्ट हो जाती हे।

बुद्धि के नष्ट होने पर इद्रिय–सयम कहॉ? स्वभावत विषय–प्रिय इद्रियॉ फिर तो दुर्विषयो की ही ओर दोडती हे। बुद्धि के नष्ट हो जाने स इदिया निरकुश हो जाती हे ओर फिर आत्मा को दिन–प्रतिदिन पतन की ही

ओर अग्रसर करती हैं। नष्ट वुद्धि इद्रियों के वश होकर, यह सिद्धान्त मानने लगता हे –

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसमूत किमन्यत्कामहेतुकम्।।

गी अ 16

जगत् असत्य, निराधार ओर अनीश्वर है। यह यो ही वना हे। काम के सिवा इस ससार के वनने का दूसरा क्या हेतु हो सकता हे ?'

इस सिद्धान्त को मानकर फिर –

ईहन्ते काममोगार्थमन्यायेनार्थसचयान्।

गी अ 16

तात्पर्य यह है कि मेथुन के किसी एक भी अग के सेवन से अर्थात् एक भी इन्द्रिय की दुर्विषय–लोलुपता से व्रह्मचर्य नष्ट हो जाता हे ओर अव्रह्मचर्य पूर्ण–रूपेण अपना आधिपत्य जमा लेता है।

अव्रह्मचर्य की निन्दा और उससे हानि

सक्षिप्त मे अव्रह्मचर्य से तात्पर्य हे–दुर्विषय भोग मेथुन, या वीर्य का खण्डित करना। जेन–शास्त्रो ने ही नही, किन्तु अन्य ग्रन्थकारा ने भी इरा अव्रह्मचर्य की लोकिक ओर लोकोत्तर दाना ही दृष्टियो से वडी निन्दा की हे। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे अव्रह्मचर्य को चोथा अधर्म–द्वार मानते हुए कहा हे–

जम्वू ! अवभ सदेव गणुयासुरस्स लोगस्स पत्थणिज्ज पक पणग पाराजालमूय थीपुरिसनपु रा वेद चिध तव सजम–वमचेर विग्घ, भेदायतण बहुपगाय मूल कायर का पुरिस सेविय, सुयणजण वज्जणिज्ज, उड्ढ निरय तिरियतिलोक्क पइट्ठाण, जरा मरण रोग सोग बहुल, वध बध विघात दुव्विघाय दसाण चरित मोहस्स हेउभय चिर परिगय मणुगय दुरत।

हे जम्वू ! चोथा अधर्म–द्वार अव्रह्मचर्य हे। दव असुर मनुष्य लोक पति आदि इस अव्रह्मचर्य–रुपी कीचड की दल–दल मे फसा हुए हे। दव असुर मनुष्यादि का यह जाल क समान फसान वाला ह। पुरुषा क लिए यह

चरित्र–मोहनीय कर्म का हेतु है। प्राणियो को इसका परिचय दीर्घकाल से है, इसलिए इसका अन्त करना कठिन है।'

प्रश्नव्याकरण सूत्र मे आगे अब्रह्मचर्य के तीस नाम बताते हुए यह बताया गया है कि बडी–बडी ऋद्धि वाले चक्रवर्ती तथा माण्डलिक राजाओ की भी इससे अतृप्ति रही है। इसकी निन्दा करते हुए इसी सूत्र मे आगे कहा है –

गेहणसन्ना पगिद्धा य मोहभरिया सत्थेहि हणति एक्क मेक्क विसय विसउदीरएसु अवरे परदारेहि हम्मति

'मैथुन मे गृद्ध आसक्त, ब्रह्मचर्य के अज्ञान से भरे हुए लोग परस्पर एक दूसरे की घात करते है, विष देकर मार डालते है। यदि परदारा हुई तो उस स्त्री का पति जारपति की घात करता है। इस प्रकार अब्रह्मचर्य मृत्यु का कारण है। अब्रह्मचर्य से धन और स्वजन का नाश होता है एव परदारा मे गृह, स्त्री, मोह से परिपूर्ण घोडे, हाथी, बैल, भैसे, मृग आदि पशु परस्पर लड कर मर जाते है और अपनी सन्तान तक की घात कर डालते हैं। इसी प्रकार पशु और मनुष्य भी परस्पर युद्ध करते हैं। अब्रह्मचर्य के कारण मित्रो मे भी वैर–भाव उत्पन्न हो जाता है। अब्रह्मचर्य से सिद्धान्त द्वारा प्ररूपित चारित्ररूपी मूल–गुण का भेदन हो जाता है। श्रुत–चारित्र– धर्म मे रत जीवन भी स्त्री–सग से अपयश तथा अकीर्ति को प्राप्त होते हें। अब्रह्मचर्य से शरीर रोगी बना रहता है और अन्त मे शीघ्र ही मृत्यु के मुख मे पडना पडता है। अब्रह्मचर्य से पर–स्त्री–गमन के कारण कितने ही जीव बधन मे पडते है और मारे जाते है। अब्रह्मचर्य के मोह से पराभाव को पाये हुये जीव इस प्रकार दुर्गति के अधिकारी बनते है।'

प्रश्नव्याकरण सूत्र मे आगे यह भी बताया गया है कि अब्रह्मचर्य के कारण स्त्रियो के लिये कैसे–कैसे महा सग्राम हुए है। स्त्रियो के लिये होने वाले सग्रामो का वर्णन करने के पश्चात् प्रश्नव्याकरण सूत्र मे लिखा है –

इहलोए ताव नट्ठा परलोए य नट्ठा महया मोहतिमिरसधयारे घोरे तस थावर सुहुम बादेरसु य पज्जत्त मपज्जत्त साहारण– सरीर पत्तेय सरीरसु य।।।

इन्द्रियो का दुर्विषय–भोग रूप मैथुन इस लोक मे बन्धनकर्त्ता और परलोक मे अनिष्टकारी हे। महा मोह – रूप अन्धकार का स्थान हे। त्रस स्थावर सूक्ष्म बादर पर्याप्त अपर्याप्त आदि पर्यायो से चतुर्गति रूप

ससार मे विशेष समय तक और बारम्बार परिभ्रमण कराने वाले मोहनीय कर्म का वर्द्धक है।'

एसो सो अबमस्स फल विवागो इहलोइओ परलोइओ अप्प सुहो बहु दुक्खो महब्मओ बहुरय प्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ बास सहस्सेहि मुच्चती न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खोति।

'इस प्रकार अब्रह्मचर्य का फल इस लोक तथा परलोक मे अल्प सुख और महान् दु ख है। अब्रह्मचर्य महा भय का स्थान कर्मरूपी रज से प्रगाढ रूप मे घिरा हुआ एव दारुण कर्कश और बिना भोगे न छूटने वाले कर्मों को बाधने वाला है।'

गीता मे अब्रह्मचर्य की निम्न प्रकार से निन्दा की है –

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव ।
महाशनो महा पाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।।
धूमेनाव्रियते बह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।
आवृत ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोह यत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनाम्।।

अध्याय 3

मनुष्य का पाप के रास्ते ले जाने वाले रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही हे। ये भुखमर या पेटू महा–पापी ओर शत्रु हैं। जिस प्रकार आग धुएँ से ढॅकी रहती हे काच मेल स धुधला दीखता हे ओर गर्भ का बालक झिल्ली स ढॅका रहता हे उसी प्रकार सारा ससार काम से ढॅका हुआ है। यानी जिसम काम न हो–जो काम से परे हो–वह ससार से भी परे है। हे अर्जुन ! कभी तृप्त न होने वाली यह काम रूपी आग आत्मा की सदा की दुश्मन है। ज्ञानियो के ज्ञान को भी वह ढाक देती है। इस काम के ठहरने की जगह इन्द्रिय मन और बुद्धि है। यह इन्ही के सहारे ज्ञान को ढाक कर मनुष्य [illegible] नित करता है।

त्रिविध नरकस्येद द्वार नाशनमात्मन ।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रय त्यजेत।।

इस प्रकार अब्रह्मचर्य की सबने निन्दा की है। परलोक–सम्बन्धी जो हानिया इससे होती है, उनका वर्णन तो किया ही गया है लेकिन इस लोक मे भी इससे अनेक हानिया है। इससे होने वाली समस्त हानियो का वर्णन करना कठिन है।

अब्रह्मचर्य से हिसा

अब्रह्मचर्य या मैथुन से हिसा का महा पाप भी होता है। भगवती सूत्र मे गौतम स्वामी के पश्न करने पर, भगवान् ने फरमाया है कि 'जिस प्रकार रूई से भरी हुई नली मे तप्त लोहे की सलाई डालने से रुई का नाश होता हे उसी प्रकार कामाचार सेवन करने वाला स्त्री–योनि के जन्तुओ का नाश करता है। ये जन्तु सभी पचेन्दिय है, और उनकी सख्या अधिक से अधिक नव लाख है। इन नव लाख जीवो के सिवा समूर्छित जीवो की तो गिनती ही नही है। इस प्रकार एक बार के मैथुन से अनेक जीवो की हिसा का पाप होता है।

स्त्री–योनि मे जीव होते है इस बात को दूसरे लोग भी मानते है। वात्स्यान काम–सूत्र का टीकाकार और रति–रहस्य का कर्त्ता भी स्त्री–योनि मे जीव होना स्वीकार करता है। स्त्री–योनि मे जीव है तो मैथुन से उनका नाश होना और हिसा का पाप लगना स्वाभाविक है। इसलिए अहिसाव्रत की रक्षा की दृष्टि से भी अब्रह्मचर्य त्याज्य हे।



ब्रह्मचर्य–व्रत

विरमत बुधा योषित्सगात्सुखात् क्षण भगुरात्
कुरुत करुणा मैत्री प्रज्ञावधू जन सगमम्।
न खलु नरके हाराक्रान्त घनस्तन मण्डल
शरणमथवा श्रोणी बिम्ब रणन्मणि मेखलम्।।

भर्तृ हरि

'हे बुद्धिमानो ! क्षणिक और नाशवान् स्त्री–सग के सुख को छोड कर मैत्री करुणा और प्रज्ञा (ज्ञान) रूपी स्त्री का साथ करो। नरक मे, जब ताडना होगी तब स्त्रियो के हार–भूषित, स्तन–मण्डल और घुघरूदार करधनी से शोभित कमर सहायता न करेगी।'

ब्रह्मचर्य व्रत का अर्थ

अब्रह्मचर्य से निवृत्त होकर, ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा करने का नाम 'ब्रह्मचर्य–व्रत' है। इस प्रकार की प्रतिज्ञा पालन करने वाले को ब्रह्मचारी कहते हैं।

ब्रह्मचर्य को व्रत रूप मे क्यो स्वीकारना चाहिये?

कहा जा सकता है कि प्रतिज्ञा–रूप व्रत स्वीकार किये बिना ही यदि ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय तो क्या हर्ज है? यदि कोई हानि नही है तो फिर ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा करने–यानि व्रत धारण करने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि सकल्प–रहित कार्यो की पूर्ति मे

वह लाभ भी नही होता। जैन–शास्त्रो मे तो इस बात का प्रतिपादन है ही, लेकिन अन्य ग्रन्थो मे भी यही बात कही गई है। जैसे –

सकल्पेन विना राजन्, यत्किंचित् कुरुते नर ।
फलस्याप्यल्पक तस्य, धर्मस्यार्ध क्षय भवेत्।।

पद्मपुराण।

'हे राजन्! सकल्प के बिना जो कुछ किया जाता है, उसका फल बहुत थोड़ा होता है और उस कार्य के धर्म का आधा भाग नष्ट हो जाता है।'

किसी भी शुभ कार्य को करने के लिये, सकल्प का होना अत्यावश्यक है। और परलोक के लिये हितकारी नियमो के पालन का सकल्प ही व्रत कहलाता है। यद्यपि व्रत–रूप मे धारण किये बिना भी ब्रह्मचर्य का पालन करना बुरा नही हे–अच्छा ही है लेकिन ब्रह्मचर्य पालन से, पारलौकिक जो लाभ पाप्त होना चाहिये, वह लाभ ब्रह्मचर्य को व्रत–रूप स्वीकार किये बिना, पूर्णतया प्राप्त नही होता। इन सब बातो को दृष्टि मे रखकर, ब्रह्मचर्य को, व्रत–रूप मे स्वीकार करना उचित है। ब्रह्मचर्य को व्रत–रूप स्वीकार करने से किसी प्रकार की हानि नही है। हॉ, लाभ अवश्य हैं, जो ऊपर बताये जा चुके है।

ब्रह्मचर्यव्रत अपरिग्रह से अलग क्यो है ?

भगवान महावीर से पूर्व, बाईस तीर्थङ्करो के शासन–काल मे ब्रह्मचर्य नाम का व्रत अलग न था। उस समय अहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह ये चार ही व्रत थे। चार व्रत होने पर ब्रह्मचर्य का पालन तो होता ही था लेकिन ब्रह्मचर्य व्रत अपरिग्रह व्रत के ही अन्तर्गत हो जाता था। और परिग्रह के त्याग मे स्त्री आदि का भी त्याग समझा जाता था। यद्यपि अपरिग्रह–व्रत मे ब्रह्मचर्य–व्रत का भी समावेश हो जाता है, और परिग्रह के त्याग मे अब्रह्मचर्य का भी त्याग हो जाता है परन्तु भगवान् महावीर ने अपने समय के एव भविष्य के वक्र जड मनुष्यो को दृष्टि मे रखकर, ब्रह्मचर्य–व्रत का अलग ही उपदेश दिया। भगवान् पार्श्वनाथ तक चार ही व्रत थे और भगवान् महावीर ने पांच व्रतो का उपदेश दिया। इस बात को लेकर भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के मुनि श्री केशीस्वामीजी और भगवान महावीर के शिष्य श्री गौतम स्वामी मे चर्चा भी हुई जिसका विस्तृत वर्णन श्री उत्तराध्ययन सूत्र के 23 वे अध्ययन मे है।

ब्रह्मचर्य व्रत के दो भेद

शास्त्रकारो ने सुविधा की दृष्टि से ब्रह्मचर्य–व्रत के दो भेद कर दिय हैं। एक सर्वविरति ब्रह्मचर्य–व्रत ओर दूसरा देशविरति ब्रह्मचर्य–व्रत। सर्वविरति ब्रह्मचर्य–व्रत उसे कहते हैं, जिसम जीवन भर के लिये मैथुन से निवृत्त हो वीर्य अक्षत रखने ओर सभी प्रकार क काम–भोग न भोगने की प्रतिज्ञा की जावे। इतना ही नही, जिन कार्यो से ब्रह्मचर्य–व्रत दूषित बने, व सभी कार्य त्याग कर नव–वाडा का पालन किया जाय। इस व्रत का स्वीकार करन वाला, सर्वविरति पूर्ण ब्रह्मचारी कहलाता हे। ऐसा पूर्ण ब्रह्मचारी मन वचन ओर काय से वैक्रिय तथा औदारिक शरीर सम्बन्धी काम–भोगा को न भोगता है, न भोगवाता है, न भोगने वाले को अच्छा ही समझता हे। सर्वविरति ब्रह्मचारी अठारह प्रकार के काम–भोगो को त्याग कर, ब्रह्मचर्य का पूर्ण–रीति से पालन करने की प्रतिज्ञा करता है। सर्वविरति–ब्रह्मचर्य का अन्य ग्रन्थकारा ने नेष्ठिक ब्रह्मचर्य नाम दिया हे।

देशविरति ब्रह्मचर्य–व्रत उसे कहते हें, जिसमे स्व–स्त्री की मर्यादा रखी जाय। इस स्थान पर, सर्वविरति–ब्रह्मचर्य–व्रत का ही वर्णन किया जाता हे। देशविरति ब्रह्मचर्य–व्रत का वर्णन आगे किया जायगा।

सर्वविरति ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन कोन कर सकते हे इसक लिय एक आचार्य कहते हे –

शक्य ब्रह्मव्रत घोर, शूरेश्च न तु कातरै ।
करिपर्याणमुद्वोढु करिभिर्नतु रासभै ।।

ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन करना शूरा के लिय ही शक्य है कायरा क लिय नही जसा कि हाथी का पलान हाथी ही उठा सकता है, गधा नहीं उठा सकता।

सर्वविरति ब्रह्मचर्य–व्रत का पालन कोन कर सकता हे?

ब्रह्मचर्य–व्रत स्वीकारने से लाभ

इन्द्रियॉ पाप से नही, पुण्य से मिली है। पुण्य से मिली हुई इन्द्रियो को पुण्य की ओर लगाना ही उचित है, न कि पाप की ओर। जब इन पुण्य से मिली हुई इन्द्रियो द्वारा धर्म का लाभ लिया जा सकता है, तब इनसे पाप क्यों किया जाय? इन्द्रियो द्वारा काम–भोग भोगना पुण्य से प्राप्त इन्द्रियो को पाप मे प्रवृत्त करना हे। इदियो की सार्थकता तभी है, इनके मिलने का लाभ तभी है जब इन्हे असयम मे न लगाया जाकर सयम मे रखा जाय। इनके द्वारा दुर्विषय भोगना–इदियो का दुर्विषय मे लिप्त होना–उसी प्रकार नाशकारी हे जिस प्रकार पतग के लिये दीपक की लौ से मोह करना नाशकारी है। पतग केवल ऑखो के विषय–रूप पर मोहित होने से नष्ट हो जाता है तो जिनकी पॉचो इदियॉ दुर्विषय–लोलुप हो, वे नष्ट क्यो न होगे? इद्रियो को दुर्विषय भोग मे लगाने से, दुर्विषय–लोलुप बनाने से–नाश अवश्यम्भावी है। इसलिये काम–भोग के दुष्परिणामो से बचने के वास्ते सर्वविरति ब्रह्मचर्य–व्रत को स्वीकार करना और पालन करना उचित है।

मोक्ष की आराधना के लिये चारित्र–धर्म के अन्तर्गत, भगवान् ने जिन पॉच महा–व्रतो को बताया है, उनमे से यह सर्वविरति–ब्रह्मचर्य चोथा महाव्रत हे। मोक्ष–प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य–व्रत को स्वीकार करना ओर पालन करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य–व्रत के बिना अन्य व्रत मोक्ष के लिये पूर्ण–रूपेण सार्थक नही होते न ब्रह्मचर्य के अभाव मे अन्य व्रत भलीभॉति आराधे ही जा सकते हे। ब्रह्मचर्य–व्रत मोक्ष के लिये केसा उपयोगी हे, यह बताते हुऐ शास्त्रकार कहते हे –

एस धम्मे धुवे निच्चे सासए जिणदेसिए;
सिज्झा सिज्झति चाणेण सिज्झिस्सति तहावरे।।

–श्री उत्तराध्ययन सूत्र।

यह ब्रह्मचर्य–धर्म ध्रुव नित्य अविनाशी और जिनदेव का कहा हुआ हे। इसी ब्रह्मचर्य–धर्म से सिद्ध हुए है, होते है, और सिद्ध होगे।

सर्वविरति ब्रह्मचर्य–व्रत की प्रशसा करते हुए एक आचार्य कहते हे –

व्रताना ब्रह्मचर्य हि निर्दिष्ट गुरुक व्रतम्।
तज्जन्य पुण्य सम्भार सयोगाद् गुरुरुच्यते।।

व्रतो मे ब्रह्मचर्य ही बडा व्रत है इसी व्रत क पुण्य–सयाग से गुरु कहे जात हे।

गीता मे कहा हे –

यदा संहरते चाय, कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

जिस प्रकार कछुआ अपने सब अगो को सिकोड लेता है, उसी प्रकार विषयो की ओर से इन्द्रियो को सिकोड लेने वाला ही स्थिर–बुद्धि है।

महाभारत मे कहा है –

सत्ये रतानां सतत, दान्तानामूर्ध्व–रेतसाम्।
ब्रह्मचर्य दहेद्राजन् ! सर्व पापान्यपासितम्।।

हे राजन् ! सत्य से प्रेम करने वाले ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य समस्त पापो को नष्ट करने वाला है।'

ब्रह्मचर्य की प्रशसा मे विद्वान् लोग कहते है। –

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठाया, वीर्यलाभो भवत्यपि।
सुरत्व मानवो याति, चान्ते याति परा गतिम्।।1।।
ब्रह्मचर्य पालनीय, देवानामपि दुर्लभम्।
बीर्ये सुरक्षिते यान्ति, सर्वलोकार्थसिद्धय ।।2।।

ब्रह्मचर्य का पालन करने से वीर्य का लाभ होता है, मनुष्य भी देवता के समान दिव्य हो जाता है और ब्रह्मचर्य की साधना पूरी होने पर परमगति भी मिलती है। ।1।। ब्रह्मचर्य देवताओ के लिये भी दुर्लभ है, इसलिये इसका पालन करना उचित हे वीर्य को सुरक्षित रखने से सब लोको का अर्थ सिद्ध हो जाता है। ।2।।

इस प्रकार सर्वविरति ब्रह्मचर्य की सब शास्त्र ओर ग्रन्थो ने प्रशसा की है। यति–धर्म का पूर्णतया पालन तभी हो सकता है, जब इस सर्वविरति ब्रह्मचर्य–व्रत को स्वीकार करके पूर्ण–रीति से पाला जाय। इस ब्रह्मचर्य–व्रत के बिना अन्य व्रतो को स्वीकार करना तथा उनका पालन करना भी मोक्ष के लिये पर्याप्त नही है। अत मोक्षेच्छुको को अन्य व्रतो के साथ इस व्रत को स्वीकार करना ओर पालन करना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्यरक्षा के उपाय

जेण सुद्धचरिएण भवति सुबभणो, सुसमणो, सुसाहू, स इसी स मुणी, स सजए स एव भिक्खू जो सुद्ध चरति बमचेर।

— प्रश्नव्याकरण सू.।

'ब्रह्मचर्य के शुद्धाचरण से ही उत्तम ब्राह्मण, उत्तम श्रमण और उत्तम साधु होता है। शुद्ध ब्रह्मचर्य को पालने वाला ही ऋषि, मुनि, सयमी और भिक्षु है।

ब्रह्मचर्य–व्रत की रक्षा के दो प्रधान उपाय

शास्त्रो मे ब्रह्मचर्य–व्रत की रक्षा के प्रधानत दो उपाय बतलाये गये है एक क्रिया–मार्ग और दूसरा ज्ञान–मार्ग। क्रिया मार्ग ब्रह्मचर्य के विरोधी सस्कारो को रोकता है ओर इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा करता है। लेकिन इस मार्ग से अब्रह्मचर्य के सस्कार निर्मूल नही होते। ज्ञान–मार्ग अब्रह्मचर्य के सस्कारो को निर्मूल कर देता है। फिर ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य–पूर्ण जीवन स्वाभाविक एव सरल और अब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन अस्वाभाविक एव कठिन प्रतीत होता हे। ज्ञान–मार्ग द्वारा प्राप्त रक्षण स्वरूप–चिन्तन या आत्मविवेक से उत्पन्न हुआ होता हे, इसलिये ऐकान्तिक और आत्यन्तिक है, कभी नष्ट नही होता। लेकिन क्रिया–मार्ग द्वारा प्राप्त रक्षण ऐकान्तिक या आत्यन्तिक नही है। क्रिया मे किंचित् भी ढिलाई होने से अब्रह्मचर्य के सूक्ष्म सस्कारो का उग्ररूप होना सम्भव हे। यद्यपि इन दोनो उपायो मे से उत्तम उपाय ज्ञान–मार्ग हे फिर भी जिस ब्रह्मचारी ने ज्ञानमार्ग को पूरी तरह अपना लिया हे उसको क्रिया–मार्ग की उपेक्षा करना कदापि उचित नही हे। क्योकि क्रिया मार्ग को त्याग देने से व्यवहार मे भी धोखा हो सकता हे। ब्रह्मचारी अब्रह्मचारी की पहचान भी नही रहती ओर क्रिया–शून्य ज्ञान, पूर्णतया लाभप्रद भी नही है।

क्रिया–मार्ग से ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा

क्रिया–मार्ग मे बाह्य नियमो का समावेश है। क्रिया–मार्ग द्वारा ब्रह्मचर्य–व्रत की रक्षा के लिये, प्रश्नव्याकरण सूत्र मे पॉच भावनाएँ बतलाई गई हैं, जो इस प्रकार हैं –

1 केवल स्त्रियो से सम्बन्ध रखने वाली कथाओ को, स्त्रियों के सन्मुख या अन्यत्र न कहे।

2 स्त्रियो की मनोहर इन्द्रियॉ न देखे।

3 स्त्रिया के रूप को न देखे।

4 कामराग बढाने वाली वस्तुओ को न देखे, न कहे, न स्मरण करे।

5 कामोत्तेजक पदार्थ न खावे–पीवे।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य–व्रत की रक्षा के लिये भगवान् ने उत्तराध्ययन सूत्र मे दस समाधिस्थान बताये हैं, जो सक्षेप मे इस प्रकार हैं –

1 वैक्रिय ओर ओदारिक शरीर–धारिणी स्त्री, पशु ओर नपुसक के ससर्ग वाले आसन और निवास–स्थान आदि का उपयोग नही करना अर्थात् ससर्ग–रहित स्थान मे रहना।

2 अकेली स्त्री से बात–चीत न करना, न अकेली स्त्री को कथावार्ता, व्याख्यान आदि सुनाना और न स्त्री–कथा करना।

3 स्त्रियो के साथ एक आसन पर न बैठना ओर जिस आसन पर स्त्री बेठी हो, उस आसन पर स्त्री के उठने से दो घडी पश्चात् तक न बेठना।

4 स्त्रियो के मनोहर ऑख, नाक आदि का तथा दूसरे अगोपागो का अवलोकन न करना, न उनका चिन्तन ही करना।

5 स्त्रियो के रति–प्रसग के मोहक–शब्द, रति–कलह के शब्द, गीत की ध्वनि, हॅसी की किलकिलाहट क्रीडा के शब्द ओर विरह–रुदन को पर्दे के पीछे से या दीवाल की आड से भी न सुनना।

6 पूर्व मे अनुभव की हुई, आचरण की हुई या सुनी हुई रतिक्रीडा, काम–क्रीडा आदि का स्मरण भी न करना।

7 पौष्टिक खाद्य एव पेय पदार्थो का उपयोग न करना।

8 सादा भोजन आदि भी प्रमाण से अधिक न खाना–पीना।

9 शृगार–स्नान, विलेपन धूप, माला विभूषा ओर केश–रचना आदि न

10 कामोत्तेजक शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से बचना। सर्वविरति ब्रह्मचारी को ऊपर कही हुई भावनाओ एव समाधि–स्थानो के नियमो का पालन करना नितान्त आवश्यक है। ऐसा न करने से सर्वविरति ब्रह्मचर्य–व्रत मे अतिचार लगता है और अतिचार लगने से व्रत दूषित हो जाता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि ऑखो के सामने आये हुए रूप को या कान मे पडे हुये शब्द को देखने–सुनने से किस प्रकार बचा जा सकता है? क्या ऑख–कान आदि को बन्द रखना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि सामने आये हुए रूप को न देखना, या कान मे पडे हुए शब्द को न सुनना, यह वास्तव मे अशक्य है, इसके लिए ऑख–कान आदि बन्द रखने की जरूरत नही है। किन्तु ऐसे समय मे ब्रह्मचारी को अपने मे राग–द्वेष न होने देना चाहिए और वस्तु–स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।

मन सयम

सर्वविरति ब्रह्मचर्य–व्रत का पूर्णतया पालन तभी माना जाता है जब शरीर के साथ ही मन और वचन पर भी सयम रक्खा जावे। केवल शरीर से अब्रह्मचर्य का सेवन न करना सर्वविरति ब्रह्मचर्य नही है, किन्तु मन, वचन और काय इन तीनो से अब्रह्मचर्य का सेवन न करना चाहिए। बल्कि, शरीर की अपेक्षा मन पर अधिक सयम रखने की आवश्यकता है। क्योकि –

मन एव मनुष्याणा कारण बधमोक्षयो.।

मन ही मनुष्य के लिये पाप–बध या मोक्ष का कारण है।

बन्धाय विषयासक्त, मुक्तौ निर्विषय मन ।

विषयासक्त मन पाप–बन्ध का कारण है और विशुद्ध मन मोक्ष का कारण है।'

इन्द्रियॉ दुर्विषयो मे मन को साथ लेकर ही प्रवृत्त होती हैं। यदि मन, इन्द्रियो का साथ न दे, तो इन्द्रियॉ दुर्विषयो मे प्रवृत्त नही हो सकती। कदाचित् इन्द्रियो को दुर्विषय मे प्रवृत्त न होने दे तब भी यदि कोई मन से दुर्विषयो का चिन्तन करता हे तो वह अब्रह्मचर्य का पाप उसी प्रकार बॉधता है जिस प्रकार (शास्त्र की कथा के अनुसार) तदुल मच्छ प्रकट मे हिसा न करके भी हिसा का पाप बॉधता है। गीता मे कहा हे –

कर्मेन्द्रियाणि सयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते।।

'कर्मेन्द्रियो को रोक कर मन से विषयो का चिन्तन करने वाला मूढात्मा मिथ्याचारी (पाखण्डी) कहलाता है।'

आत्मा के विनाश का कारण बताते हुए, गीता मे कहा है –

ध्यायतो विषयान् पुस सङ्गस्तेषूपजायते।
सगात्सजायते काग कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सगोह सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम।
स्मृतिभ्रशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

अध्याय 2

'विषयो का ध्यान करते रहने पर, विषयो से स्नेह हो जाता हे ओर फिर उनके पाने की इच्छा, काम की उत्पत्ति होती है,। इस काम से ही क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अज्ञान उत्पन्न होता हे, अज्ञान से स्मृति नष्ट होती है, स्मृति नष्ट होने से बुद्धि भ्रष्ट होती है और बुद्धि भ्रष्ट होने पर सत्यानाश हो जाता है।'

इस प्रकार आत्मा के पतन का कारण मन मे विषयो का ध्यान करना–विषयो का चिन्तन करना ही ठहरता है। इसलिए ब्रह्मचारी को मन पर सयम रखने की आवश्यकता है।

मन को किसी भी समय कार्य से खाली रखना ब्रह्मचर्य–व्रत को जोखिम मे डालना है। मन को जब भी कोई कार्य न होगा, वह तभी बुरे विचार करने लगेगा। बुरे विचार ही पाप के कारण हैं। ससार मे कहावत है कि 'वश मे किये हुए भूत को जब कोई काम नही बताया जाता, वह भूत उस वश करने वाले के रक्त–मास को ही खा जाता है।' ठीक इसी प्रकार, जब मन को कोई काम नही रहता, तब वह हृदय के सद्विचारो का–मनुष्यो के गुणो का भक्षण करने लगता है। इसलिए मन को प्रत्येक समय मे किसी न किसी सत्कार्य मे लगाये रखना उचित है।

भोजन–संयम

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये अधिक भोजन करना वर्ज्य है। जीवन के लिए जितना भोजन आवश्यक हे उससे किचित् भी अधिक भोजन ब्रह्मचारी को न करना चाहिए। अधिक भोजन से इन्द्रियो मे विकार उत्पन्न होता हे, जो ब्रह्मचर्य का नाशक है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए थोडा भोजन ही अच्छा हे। विद्वानो का कथन हे कि स्वल्पाहार सुखावह अर्थात थोडा भोजन सुखप्रद ह।

इस कथन का उल्टा यह हुआ कि अधिक भोजन दुखप्रद है। अधिक भेजन केवल ब्रह्मचर्य के लिए ही नही, किन्तु प्रत्येक दृष्टि से हानि–पद ही है। चाणक्य–नीति मे कहा है –

अनारोग्यमनायुष्यग स्वर्ण्य चाति भोजनम्।
अपुण्य लोकविद्द्विष्ट तस्मात्तत्परिवर्जयेत्।।

अति भोजन से अस्वस्थता बढती है, आयुर्बल क्षीण होता है, अनेक रोग पैदा होते हैं, पाप–कर्म मे प्रवृत्ति होती है और लोगो मे निन्दा होती है। इसलिए अधिक भोजन करना वर्जित है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय बताते हुए प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है –

नो पाण भोयणस्स अइमायाए आहारइत्ता।

'ब्रह्मचारी प्रमाण से अधिक भोजन, पानी न खावे, पिये।'

ब्रह्मचारी को, अधिक भोजन कदापि न करना चाहिए। इसी प्रकार वह भोजन भी न करना चाहिए जो गरिष्ठ, कामोत्तेजक, शक्तिवर्द्धक और खट्टा मीठा, चरपरा आदि स्वाद विशेष लिए हुऐ हो। ब्रह्मचारी हल्का, थोडा, नीरस और रूखा भोजन ही करता है। प्रश्न–व्याकरण सूत्र मे ब्रह्मचर्य की जो नौ गुप्तियॉ बताई गई हैं, उनमे से एक गुप्ति, सरस भोजन न करने की ही है और वह इस प्रकार है–"नो पणीय रसभोई" अर्थात् ब्रह्मचारी रसप्रणीत भोजन न करे।

पुस्तको के अनुसार बुद्ध ने अपने शिष्यो से कहा था कि 'एक बार हल्का आहार करने वाला महात्मा है, दो बार सम्भल कर यानि थोडा 2 आहार करने वाला बुद्धिमान् और भाग्यवान है और इससे अधिक खाने वाला महा–मूर्ख अभागा और पशु का भी पशु है।'

ब्रह्मचारी को ऐसे पदार्थो का भी सेवन नही करना चाहिये जो मादक हो। मादक–द्रव्यो से बुद्धि नष्ट होती है और बुद्धि नष्ट होने पर समस्त दुष्कर्मो का होना सम्भव है। जैसे–गॉजा, भङ्ग, अफीम शराब, तम्बाखू, बीडी सिगरेट चुरुट आदि नशा करने वाले समस्त पदार्थो की गणना मादक–पदार्थो या मद मे है। वैद्यक–ग्रन्थो मे कहा है –

बुद्धि लुम्पति यद् द्रव्य मदकारि तदुच्यते।

जिन पदार्थो से बुद्धि नष्ट होती है, वे सब मादक पदार्थ हैं। इसलिए ब्रह्मचारी को ऐसे पदार्थो के सेवन से भी हमेशा बचते रहना चाहिये।

अश्रृंगार

ब्रह्मचारी को शृंगार करना मना है। शृंगार मे स्नान, दन्त–धावन, तेल–फुलेल का लगाना, अच्छे कपडे और आभूषणादि पहनना है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है कि –

ब्रह्मचारी स्नान और दन्त–धावन न करे। यदि पसीना हो तब भी मैल मिश्रित पसीने से युक्त शरीर रखे, मौन रहे, निरर्थक बात–चीत न करे, केशो का लुचन करे, तथा अन्य और भी जो कष्ट हो, उन्हे क्षमा सहित सहन करे, आत्मा का दमन करे और अल्पवस्त्री रहे, क्षुधा–तृषा सहन करे लाघवता धारण करे, गर्मी–सर्दी सहन करे, भूमि अथवा काष्ठ शय्या पर शयन करे भिक्षा के लिये गृहस्थो के घर मे प्रवेश करने पर आहार प्राप्त हो या न हो, सम्मान हो अथवा अपमान हो, निन्दा हो या प्रशसा हो, सभी अवस्थाओ मे समभाव रक्खे, मच्छर–डास आदि द्वारा प्राप्त हुए कष्टो को सहन करे नियम, सद्गुण और विनय का आचरण करे। ऐसा करने से ब्रह्मचर्य स्थिर रहता है।

इस प्रकार ब्रह्मचारी को अन्य नियमो के साथ ही स्नान, दन्त–धावन, आदि शृगार न करने का नियम भी बताया गया है। अन्य ग्रन्थकारो ने भी ब्रह्मचारी के लिये ऐसे ही नियम बताये हैं। जैसे –

मलस्नान सुगन्धाद्यै स्नान दन्त विशोधनम्।
न कुर्याद् ब्रह्मचारी च, तपस्वी विधवा तथा।।

–विद्या सहिता शिवपुराण

मल से शुद्धि पाने के लिये, या सुगन्धित द्रव्य का सेवन करके स्नान करना दातुन–मजन आदि करना, ब्रह्मचारी तपस्वी और विधवा को उचित नही है।

सुखशय्या नव वस्त्र, ताम्बूल स्नान मडनम्।
दन्त काष्ठ सुगन्ध च, ब्रह्मचर्यस्य दूषणम्।।1।।

–महाभारत शान्ति पर्व

'कोमल सुख शय्या, नवीन चमकीले–भडकीले वस्त्र, ताम्बूल, स्नान, सुश्रूषा, दातुन, और सुगन्ध का सेवन ये सब ब्रह्मचर्य के लिये दूषण हैं। इनके सेवन से ब्रह्मचर्य दूषित हो जाता हे।'

वर्ज्जयेन्मदमास गन्ध माल्य दिवास्वप्नाजनाभ्यजन यानोपा–नृच्छत्र काम क्रोध लोभ मोह वाद्य वादन स्नान दन्तधावन हर्ष नृत्य–गीत परिवाद भयानि।

–गौतम स्मृति।

ब्रह्मचारी मधु, मास, गन्ध, फूलमाला, दिन मे शयन, अजन, उबटन सवारी जूता, छाता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, बाजा बजाना, स्नान, दातुन, प्रसन्नता, नाच, गाना, निन्दा और भय को त्याग दे।

यही बात मनुस्मृति मे भी कही गई है। उत्तराध्ययन सूत्र मे ब्रह्मचारी के लिए विशेष रूप से कहा गया है कि –

विभूस परिवज्जेज्जा सरीर परिगण्डन।
बभचेर रओ भिक्खू सिगारत्थ न धारए।।

–उत्तराध्ययन सूत्र अध्याय 16 वा

ब्रह्मचर्य मे रत साधु, शरीर मण्डन अर्थात् शरीर, नख, केश आदि का सस्कार करना और शृगार–वस्त्रादि से शरीर को शोभित करना सर्वथा त्याग दे।

निवास

ब्रह्मचारी ऐसे स्थान का सेवन कदापि न करे जहॉ स्त्रियो का निवास या आगमन हो। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियो मे से एक गुप्ति इसी विषय मे है, जो इस प्रकार है –

नो इत्थी पसु पडग ससत्ताणि सिज्जा सणाणि सेवित्ता भवइ।

जिस स्थान पर स्त्री, पशु, या नपुसक रहते हो, उस स्थान पर ब्रह्मचारी निवास न करे।

स्त्री के साथ एकान्त मे निवास करना भी ब्रह्मचर्य के लिये घातक है। एकान्त मे रहने से कुभावनाओ के जन्म और ब्रह्मचर्य के खण्डित होने का भय रहता हे। चाहे कोई कितना ही दृढ–प्रतिज्ञ क्यो न हो, एकान्तवास ब्रह्मचर्य का घातक ही है।

अध्ययन

ब्रह्मचारी को, ऐसी पुस्तके भी कदापि न पढनी चाहिए, जिनसे काम–विकार की जागृति हो मन या इन्द्रियॉ दुर्विषयो की ओर दौडे अथवा उनकी इच्छा करे। इस प्रकार का अध्ययन भी ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा से भ्रष्ट कर देता है। ब्रह्मचारी के लिए विशेषत धर्म–ग्रन्थो का ब्रह्मचारियो की कथाओ का ओर ससार की ओर स वैराग्य उत्पन्न करने वाली, ससार की नश्वरता बतलाने वाली तथा ससार एव दुर्विषया से घृणा उत्पन्न करने वाली पुस्तको का अध्ययन ही लाभप्रद है। ऐसे अध्ययन से ब्रह्मचर्य की रक्षा मे बहुत सहायता मिलती है।

सग

ब्रह्मचारी, कामी या व्यभिचारी का सग कदापि न करे। ऐसे लोगो की सगति से कभी न कभी ब्रह्मचर्य का नष्ट होना सम्भव हे। सगति का प्रभाव पडता ही है। विद्वानो का कथन हे –

कामिना कामिनीनाश्च सगात्कामी भवेत्पुमान्।

कामी पुरुष और भोगवती–स्त्री के साथ रहने वाला पुरुष कामी बन जाता हे।

इसलिये ब्रह्मचारी को ऐसी सगति से सदेव बचते रहना चाहिये, जिससे कामोत्पत्ति ओर ब्रह्मचर्य नष्ट होने का भय रहता हे।

स्त्रीपरिचय

ब्रह्मचारी को स्त्रियो का परिचय न बढने देना चाहिये, न अपने पास अधिक समय तक बैठा कर वार्तालाप ही करना चाहिये। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्ति बताते हुये कहा है –

नो इत्थीण सेवित्ता भवइ, नो इत्थीण इन्दियाणि मणोहराई रम्माइ आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ।

'ब्रह्मचारी स्त्रीसेवन न करे स्त्रियो के मनोहर और रमणीय अगो का अवलोकन न करे, न प्रशसा ही करे।

स्त्रियो के देखने से भी ब्रह्मचारी के लिए बडे–बडे अनर्थ सम्भव हैं। शास्त्र मे यह बात नही मिलती है कि मणिरथ पहले से ही दुराचारी था। मदनरेखा पर भी उसकी कुदृष्टि उसको देखने से पूर्व न थी, किन्तु उसने जब से मदन रेखा को देखा, तभी से उसकी कुदृष्टि हुई। उसे देखने मात्र से होने वाली कुदृष्टि का परिणाम यह हुआ कि उसने मदनरेखा के लिये अपने छोटे भाई को जिसको उसने आग्रह–पूर्वक युवराज बनाया था–मार डाला और अन्त मे स्वय को भी मरना पडा। इसलिये ब्रह्मचारी को न तो स्त्रियो को देखना ही चाहिए और न उनसे परिचय ही बढाना चाहिए।

अन्य ग्रन्थकारो ने भी ब्रह्मचारी को स्त्रियो के साथ परिचय बढाने से रोका है। जेसे –

अविद्वासमल लोके, विद्वासमपि वा पुन ।
प्रमादाह्युत्पथ नेतु, कामक्रोध वशानुगम्।।1।।
मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वासमपि कर्षति।।2।।

मनुस्पमृति आ 2

'मै विद्वान् या जितेन्द्रिय हूँ, ऐसा समझकर, स्त्रियो के समीप न बैठना चाहिये, क्योकि चाहे विद्वान् हो या मूर्ख, देह धर्म से काम-क्रोध के वशीभूत शरीर को स्त्रियाँ कुमार्ग पर ले जाने मे समर्थ है। इसलिए चाहे माता हो बहन हो या पुत्री हो, इनके साथ भी एकान्त स्थान मे न बैठे क्योकि इदियो का बलवान् समूह नीति-रीति से चलने वाले पुरुष को भी अपने पथ से विचलित कर देता है।'

ब्रह्मचारी को स्त्रियो से परिचय न करने का उपदेश देते हुए शास्त्र मे कहा है -

हत्थ पाय पडिच्छिन्न कन्न नास विगप्पिअ।
अविवास सय नारि बभयारी विवज्जए।।

-दशवैकालिए सूत्र अ 8 वा

'जिसके हाथ-पाव टूटे हो, नाक-कान भी कटे हुए हो और जो अवस्था मे भी सौ वर्ष की हो, ऐसी स्त्री के साथ भी ब्रह्मचारी परिचय न करे, न उसके साथ एकान्त मे रहे।

ऐसी स्त्री भी पुरुष के हृदय को और ऐसा पुरुष भी स्त्री के हृदय को विचलित करने मे समर्थ हो सकता है, अच्छी स्त्री और अच्छे पुरुष की तो बात ही दूसरी है। ब्रह्मचारी को स्त्रियो के परिचय से बचना ही श्रेयस्कर है। पूज्य श्री उदयसागरजी महाराज भी कहा करते थे।

गढ के पासे डूँगरी, कदियक गढ को भग।
साधू पासे स्त्री रहे, यो ही बडो कुसग।।
यो ही बडो कुसग, भग तो शील मे होसी।
वैठ नारि के पास, मूल की पूजी खोसी।।
शीलादिक आचार के, पालन से मन भागा।
नाथ कहे रे बालका, ये जोग को रोग लागा।।

मातृ पुत्री और भगिनी भाव

सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत के आराधक को स्त्रियो के प्रति मातृ, पुत्री और भगिनी भाव रखना बहुत ही हितकारी है। धर्म से किचित् भी प्रेम करने वाले के हृदय मे मॉ बहन और लडकी के लिए कोई विकार-भावना नही होती। हा जिन्होने मनुष्यता को ही तिलाजलि दे दी है, जिनमे से मनुष्यत्व ही निकल गया है, उनकी तो बात ही अलग हे। ऐसे लोग मॉ, बेटी और बहिन

मातृ पुत्री और भगिनी भाव ब्रह्मचर्य की रक्षा का एक सर्वोत्कृष्ट साधन है। जो स्त्रियाँ आयु मे बडी हैं उनके प्रति मातृभाव, जो समान हैं उनके प्रति भगिनी–भाव, और जो छोटी हैं उनके प्रति पुत्री–भाव रखने से, हृदय मे विकार उत्पन्न नही होता। मातृ–पुत्री और भगिनी भाव का क्या माहात्म्य है इसके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक लखारा अपनी गधी पर चूडियाँ लादे हुए चला जा रहा था। गधी धीरे चलती थी इसलिये लखारा उसे हाँकते हुए कहता जाता था – 'माँ चल।' 'बहन चल।' 'बेटी चल।' लखारे के इस कथन को सुन कर मार्ग चलनेवाले लोग उससे कहने लगे कि–तू कैसा मूर्ख है। गधी को भी माँ, बहन और बेटी कोई कहता है? कही गधी भी माँ, बहन या बेटी हो सकती है? लोगो की बात सुनकर लखारा कहने लगा–भाई, यद्यपि गधी होने के कारण यह मेरी माँ, बहन या बेटी नही हो सकती, लेकिन स्त्रीजाति के प्रति माँ, बहन और बेटी की भावना को जन्म देने वाली तो हो सकती है न? यदि मैं इस गधी को मातृ, पुत्री और भगिनी भाव से न देखूँगा तो स्त्रियो के प्रति ऐसी भावना कब रख सकूँगा? मैं लखारा हूँ। स्त्रियो को चूडियाँ पहनाना मेरा काम है, इसलिये बडे–बडे घरो मे मेरा प्रवेश है। नित्य ही सुन्दर–सुन्दर स्त्रियो के कोमल–कोमल हाथ चूडियाँ पहनाने के लिये मेरे हाथो मे आया करते हैं। यदि मैं उनके प्रति मातृ पुत्री और भगिनी भाव न रखूँ–किसी प्रकार की कुभावना रखूँ–तो मैं लोगो मे से अपना विश्वास भी खो दू तथा व्यवसाय से भी हाथ धो बैठूँ। मैं इस गधी को भी बहन, माँ और बेटी के समान मानता हूँ तभी अन्य स्त्रियो को भी बहन, माँ और बेटी के समान मान सकता हूँ। लखारे की बात सुनकर सबको चुप हो जाना पडा।

तात्पर्य यह है कि सब स्त्रियो के प्रति मातृ, भगिनी और पुत्री भाव रखने से स्त्रियो के प्रति कुभावनाएँ उत्पन्न ही नही होती। इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा होती है।

उपवास

वीर्य एक ऐसी वस्तु है जिसे बिना उपाय के शरीर मे रोक रखना–पचा जाना–बहुत कठिन कार्य है। ऐसा करने के लिये उपायो की आवश्यकता है। इस प्रकार के उपायो मे से एक उपाय, उपवास या तपस्या भी है। जैनशास्त्रो मे तप का प्रतिपादन इसलिये भी विशेष रूप से किया गया है कि उससे ब्रह्मचर्यव्रत सुरक्षित रहता है और ब्रह्मचर्य के बाधक दोष नष्ट

हो जाते है। श्रीउत्तराध्ययन सूत्र मे आहार–त्याग करने के छ कारणो मे से एक कारण यह बतलाया है कि ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये आहार छोड दे। इस बात का समर्थन अन्य ग्रन्थकार भी करते है। जैसे–

आहारान् पचति शिखी दोषान् आहारवर्जित ।

आयुर्वेद।

आहार को अग्नि पचाती है और दोषो को उपवास पचाते है।

ध्यान

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये ध्यान की भी आवश्यकता है। ध्यान ब्रह्मचर्य की रक्षा का प्रधान साधन है। ब्रह्मचर्य का वर्णन करते हुए प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है –

झाणबर कवाड सुकय मज्झ प्पदिण्ण फलिह।

ध्यान ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करने वाला कपाट है।

मनस्मृति मे कहा है –

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूना हि यथा मला ।
तथेन्द्रियाणा दह्यन्ते, दोषा प्राणस्य निग्रहात्।।

जिस प्रकार अग्नि मे डालकर तपाने से धातुओ का मल भस्म हो जाता है उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियो के सब दोष भस्म हो जाते है।

नियमितता

ब्रह्मचारी का जीवन अनियमित नही होना चाहिए। अनियमित जीवन प्रत्येक दृष्टि से हानिप्रद है। उसके प्रत्येक कार्य नियमित रूप से ठीक समय पर हो। कोई समय व्यर्थ या खाली न जावे, न कोई कार्य असमय पर ही हो। अनियमितता से बचे रहने पर ही ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य स्थिर रहता है।

ईश्वर–प्रार्थना

ब्रह्मचारी के लिये सबसे बडा नियम ईश्वर–प्रार्थना है। नियमित रूप से प्रात साय ईश्वर की प्रार्थना ब्रह्मचर्य की रक्षा का एक अच्छा साधन है। ईश्वर–प्रार्थनादि नियमो का पालन करने से ब्रह्मचर्य के साथ ही दूसरे कार्यों की सफलता मे भी सहायता मिलती है।

इन नियमो के सिवा और भी बहुत से छोटे–छोटे नियम ऐसे हैं जिनका पालन करने पर ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है ओर पालन न करने पर ब्रह्मचर्य दूषित हो जाता है। जेसे कि ब्रह्मचारी को ओढना–बिछौना नरम न रखना, कडा रखना, मुलायम या चटक–मटक वाले वस्त्र न पहनना, स्त्रियो के चित्र न देखना और न रखना आदि। इस प्रकार के समस्त नियमो का पालन करने वाला ही अपने व्रत को निर्दोष–रूप मे पाल सकता है।

स्त्रियाँ और ब्रह्मचर्य

किन्नाप्नोति रमारूपा ब्रह्मचर्य तपस्विनी।

उस लक्ष्मी–रूपी स्त्री के लिए कुछ भी कठिन नहीं है, जो ब्रह्मचर्य–तप की तपस्विनी है।'

कुछ लोगो का कथन है कि स्त्रियो को पूर्ण ब्रह्मचर्य नही पालना चाहिए लेकिन जैन–शास्त्र इस कथन का समर्थक नही, अपितु विरोधी है। जैन–शास्त्रो मे ब्रह्मचर्य का जैसा उपदेश पुरुषो के लिये है, वैसा ही उपदेश स्त्रियो के लिये भी है। जैन–शास्त्रो का यह उपदेश आदर्श रहित नही किन्तु आदर्श सहित है। भगवान् ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी नामक कन्याओ ने कर्म–भूमि के पारम्भिक युग मे ही पूर्ण ब्रह्मचारिणी रहकर स्त्रियो के लिये ब्रह्मचर्य पालन करने का आदर्श रख दिया था। उन्निसवे तीर्थकर भगवान् मल्लिनाथ स्त्री ही थे। स्त्री होते हुए भी उन्होने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया था और तीर्थकर पद प्राप्त किया था। इसी प्रकार राजीमती, चन्दनबाला आदि सतियो ने भी अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया है। साराश यह कि स्त्रियॉ ब्रह्मचर्य न पाले, ब्रह्मचारिणी न हो' यह बात जैन–शास्त्रो से विरुद्ध है। जैन–शास्त्र इस विषय मे स्त्री और पुरुष दोनो को समान अधिकारी बताते है। आयु देश काल आदि किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाते। वे कहते है कि चाहे स्त्री हो या पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन जो भी करे इससे होने वाले लाभ को वही प्राप्त कर सकता है।

पुरुषो की अपेक्षा स्त्रिया ब्रह्मचर्य का पालन भी अधिक सुचारु–रूप से कर सकती है। जैन–शास्त्रो मे ऐसे कई उदाहरण मिलते है जिनमे स्त्रियो ने ब्रह्मचर्य से पतित होते हुए पुरुषो को ब्रह्मचर्य पर स्थिर किया। जैसे कि राजीमती ने रथनेमि को और कोशा नामक श्राविका ने स्थूलभद्रजी के गुरु–भाई को ब्रह्मचर्य से पतित होने से बचाया था।

तात्पर्य यह कि ब्रह्मचर्य पुरुषो ही के लिये नही हे किन्तु स्त्रियो के लिये भी वैसा ही आवश्यक हे। स्त्रियॉ भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकती है।

सर्वविरति ब्रह्मचर्य–व्रत की आराधना के लिये स्त्रियो को भी उन नियमो का पालन करना आवश्यक हे जो पुरुषो के लिए पिछले प्रकरण मे बताये गये हें। हॉ, यह अन्तर अवश्य होगा कि जहॉ ब्रह्मचारी के लिये स्त्रियो का साथ और उनकी प्रशसा आदि वर्ज्य हे, वहॉ ब्रह्मचारिणी को पुरुषो का साथ, उनकी कथा आदि सर्व वर्ज्य समझना चाहिए और जहॉ ब्रह्मचारी को स्त्रियो से बचने का नियम बताया गया हे, वहॉ ब्रह्मचारिणी को पुरुषो से भी बचने का नियम समझना चाहिए। शेष सब नियम स्त्रियो के लिए भी वेसे ही है जैसे पुरुषो के लिए है और जो बताये जा चुके हें।

विवाह

तृषा शुष्यत्यास्य पिबति सलिल स्वादु सुरभि,
क्षुधार्त्त सन् शालीन् कवलयति शाकादि वलितान्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूम्
प्रतीकारो व्याधे सुखमिति विपर्यस्यति जन ।।

— वैराग्यशतक

जब मनुष्य का कण्ठ प्यास से सूखने लगता है, तब वह शीतल, सुगन्धित और निर्मल जल पीकर तृषा के दु ख से मुक्त होता है। जब भूख सताती है तब शाकादि के साथ भोजन करके क्षुधा का कष्ट मिटाता है। जब कामाग्नि प्रचण्ड होती है तब सुन्दर–स्त्री को हृदय से लगाता है। इस प्रकार जल, भोजन और स्त्री एक–एक रोग की दवा है लेकिन लोगो ने उल्टा ही मान रखा है। अर्थात् लोग इन दवाओ मे भी सुख मानते हैं।

मनुष्य जन्म उत्तम क्यो है ?

मनुष्य–शरीर सब शरीरो से उत्तम क्यो माना जाता है इस विषय मे कहा है –

आहार निद्रा भय मैथुन च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणा।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीना पशुभि समाना।।

आहार निद्रा भय ओर मैथुन की दृष्टि से तो मनुष्य और पशु समान ही है लेकिन मनुष्य मे धर्म हे इसी से वह पशु की अपेक्षा महान् है। धर्महीन मनुष्य पशु के समान है।

मनुष्य मे धर्म हे इसलिए वह सब प्राणियो मे उत्तम माना जाता हे। लेकिन आहारादि मे ही धर्म नही हे। यदि आहारादि मे ही धर्म होता हे ता उक्त श्लोक मे धर्म को आहारादि से भिन्न न बताया जाता। इस श्लोक मे धर्म

को आहारादि से भिन्न बतलाया गया है, इसलिये यह देखना है कि धर्म क्या है? जिसके होने पर मनुष्य सब प्राणियो मे उत्तम माना जाता है।

इस लोक और परलोक मे जिसके द्वारा उन्नति हो, उसी का नाम धर्म है। भगवान् महावीर ने धर्म के श्रुत–धर्म ओर चारित्र–धर्म ये दो भेद बताये हैं। इनका विवेचन यहाँ आवश्यक नही है। यहाँ तो केवल यह बताना है कि भगवान् ने चारित्र–धर्म की आराधना के लिये जो पॉच व्रत बताये हैं उनमे से चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है। अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करना धर्म हे। इसका पालन करने पर ही मनुष्य सब प्राणियो मे उत्तम हो सकता है। भोग भोगने या अब्रह्मचर्य का सेवन करने के कारण मनुष्य सब प्राणियो मे उत्तम नही कहला सकता।

आत्मा जब निगोद मे पडा था, तब इसे यह भी मालूम नही था कि मैं जीव हूँ। पुण्य के बढने से यही आत्मा निगोद से निकल कर अनेक योनियो को भोगता हुआ, अनेक प्रकार के कष्ट सहता हुआ इस मनुष्य–जन्म को प्राप्त कर सका है। आत्मा ने पूर्व भोगी हुई अनेक योनियो मे दुर्विषय भोग को ही इष्ट मान रखा था, इसलिए इसने उन्हे खूब भोगा, लेकिन न तो इसे उन भोगो की ओर से तृप्ति ही हुई, न बार–बार के जन्म–मरण से मुक्ति ही हुई। उस समय तो इसको ऐसा ज्ञान न था–इसकी बुद्धि विकसित न थी, यह धर्म को जानता ही न था। लेकिन यदि मनुष्य–जन्म पाकर भी यह पशु–योनि मे भोगे जाने वाले भोगो को ही भोगे, उन्ही मे सुख माने जन्म–मरण से मुक्त होने का उपाय न करे तो इससे अधिक भूल–अज्ञानता या मूर्खता ओर क्या होगी? जो भोग पशु–शरीर मे भी भोगे जा सकते हें, उनके भोगने मे इस मनुष्य–शरीर को नष्ट करना कौनसी बुद्धिमानी हे ? केवल चार आने मे आ सकने वाली मिठाई के बदले मे चिन्तामणि ऐसा रत्न दे देने की मूर्खता के समान क्षणिक, अस्थायी और हर प्रकार से हानि करने वाले दुर्विषय–भोग मे उत्कृष्ट मनुष्य–जन्म खो देने की मूर्खता से अधिक मूर्खता ओर क्या होगी? मनुष्य–शरीर दुर्विषय–भोग के लिये नही हे, किन्तु उन्हे त्यागने के लिये हे। मनुष्य–जन्म प्राप्त होने का वास्तविक लाभ तभी है जब दुर्विषय–भोग त्याग कर ब्रह्मचर्य–रूपी तप का अनुष्ठान किया जाय। भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को उपदेश देते हुए कहा था –

हे पुत्रा। देहधारियो का यह शरीर दु खदायी–विषय–भोग के योग्य नही हे क्योकि दुखदायी विषय–भोग तो विष्टा खाने वाले नारकीय जीवो को भी मिल जाता हे अतएव में कहता हूँ कि यह शरीर दिव्य तप करने योग्य हे, जिससे अन्त करण शुद्ध हो जाता हे ओर अनन्त ब्रह्मसुख प्राप्त होता हे।

आवश्यक ब्रह्मचर्य

यद्यपि मनुष्य–जन्म की सफलता और पूर्णतया– धर्माचरण तो सर्वविरति ब्रह्मचर्य के पालन मे ही है, लेकिन सर्वविरति ब्रह्मचर्य जिसे चतुर्थ महाव्रत कहा गया है, वह तो गृह–ससार का त्यागी ही स्वीकार कर सकता है। गृह–ससार मे रहते हुए ऐसा न कर सकने वाले पुरुष–स्त्री को कम से कम क्रमश 25 और 16 वर्ष की अवस्था तक तो अखण्ड ब्रह्मचर्य पालना ही चाहिये। इस अवस्था तक अखण्ड ब्रह्मचर्य न पालना अपने आपकी अवनति, रोग, एव मृत्यु के मुख मे धकेलना है। स्मृतिकार कहते हैं –

चतुर्थमायुषो भाग मुषित्वाऽऽध गुरो कुले।
अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्।।

–मनुस्मृति।

पूर्णायु का चौथा भाग यानि 100 वर्ष मे से 25 वर्ष गुरुकुल मे रहकर अविप्लुत रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करे और फिर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करे।'

इस प्रकार कम से कम 25 और 16 वर्ष की अवस्था तक तो प्रत्येक स्त्री–पुरुष को अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना ही चाहिए।

विवाह कौन करते है ?

25 और 16 वर्ष की अवस्था होने पर ही पुरुष और स्त्री इस बात के निर्णय पर पहुँचते है कि हम आयु भर ब्रह्मचर्य पाल सकते है या नही ? अर्थात् पूर्ण अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने की शक्ति हममे है या नही ? जो लोग ऐसा करने मे समर्थ होते हैं, वे तो पूर्ण ब्रह्मचर्य की ही आराधना करते है–विवाह के झझटो मे नही फसते, जैसे भीष्म पितामह। लेकिन जो लोग ससार मे रहते हुए पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने मे अपने आप को असमर्थ देखते है, वे विवाह कर लेते है किन्तु दुराचार मे प्रवृत्त नही होते। यद्यपि जैन–शास्त्रो मे तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का ही विधान पाया जाता है, विवाह–विषयक विधान नही पाया जाता लेकिन नीतिकारो ने पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत पालने मे असमर्थ लोगो के लिए विवाह का विधान ओर विवाह न करके दुराचार मे प्रवृत्त होने का अत्यन्त निषेध किया है। अर्थात् यह कहा गया हैं कि यदि विवाह नही करना है तो ब्रह्मचर्य पाले लेकिन दुराचार मे प्रवृत्त न हो। जेन शास्त्रो मे भी ऐसा विधान कहीं नही मिलता कि जो लोग सर्वविरति ब्रह्मचर्य पालने मे असमर्थ हे उन्हे विवाह न करने देकर दुराचार मे प्रवृत्त होने दिया जाय। हॉ जेन शास्त्रो मे दुराचार–प्रवृत्ति का निषेध अवश्य है। वे विवाह न करके–या विवाह करके

पर–स्त्री–गमन करने वाले को तो दुराचारी कहते हैं, लेकिन विवाह करने वाले को दुराचारी नही कहते।

जो लोग नैष्ठिक (यावज्जीवन) ब्रह्मचर्य का पालन करने मे समर्थ है दुर्विषयो मे इन्द्रिय और मन को प्रवृत्त न होने देने की शक्ति रखते हैं, उनके लिए तो विवाह न करना ही श्रेयस्कर है। लेकिन जो ऐसा करने मे असमर्थ हैं और जिन्हे विवाह न करने पर दुराचार मे प्रवृत्ति होने का भय है, नीतिज्ञो के समीप ऐसे लोगो का विवाह करना दुराचार मे प्रवृत्त होने की अपेक्षा बुरा नही, किन्तु अच्छा माना जाता है। हॉ, विवाह को माना जाय दवा के रूप मे। पाश्चात्य विद्वान् सन्त फ्रान्सिस कहता है कि 'कामवासना की दवा के रूप मे विवाह बडी अच्छी वस्तु है, लेकिन वह कडी है, इसलिये यदि उसका व्यवहार बहुत सम्भाल कर न किया जावे तो खतरनाक भी है।' इस प्रकरण के प्रारम्भ मे जो श्लोक दिया गया है उसमे भर्तृहरि ने भी यही बात कही है। इस प्रकार विवाह कामवासना रूपी रोग की दवा के सिवा और किसी सुख का साधन नही माना जा सकता और दवा लेने की आवश्यकता उन्ही लोगो को होती है जो रोग को और किसी उपाय से नही मिटा सकते। अर्थात् विवाह केवल वही लोग करते हैं जो कामवासना का विवेक द्वारा दमन करने मे असमर्थ हैं।

विवाह सब के लिये आवश्यक नही है

कामवासना–रूपी रोग को विवेक–रूपी औषधि से दबाया जा सकता है। जिनमे इस औषधि के सद्भाव का अभाव या इसकी कमी है, अथवा पूर्ण विवेकी होते हुए भी पुण्य फलो की निर्जरा करना जिनके लिये आवश्यक है और जो निकाचित बन्ध मे पडे हुए हैं, वे ही विवाह करते हैं। एक पाश्चात्य विद्वान का कथन है कि कामवासना इतनी प्रबल नही होती कि जिसका विवेक या नैतिक बल से पूर्णतया दमन न किया जा सके। विषयेच्छा भी नीद और भूख के समान ऐसी कोई वस्तु नही है जिसकी तृप्ति अनिवार्य हो। तात्पर्य यह है कि कामवासना का दमन विवेक द्वारा सद्ज्ञान एव भावना के बल से किया जा सकता है इसलिये प्रत्येक के लिये विवाह करना आवश्यक नही है।

कदाचित कहा जाय कि 'प्रजोत्पत्ति की दृष्टि से विवाह करना आवश्यक है। यदि सब लोग विवाह न करके ब्रह्मचारी होने लगे तो फिर ससार का ही अन्त हो जावेगा।' ऐसे लोगो को यह उत्तर दिया जाता है कि

इस पकार की शका निर्मूल है। अनादि होने के कारण ससार का अन्त नही हो सकता न सभी लोग ब्रह्मचर्य का पालन ही कर सकते हैं। कभी थोडी देर के लिये ऐसा मान भी लिया जाय तब भी पजोत्पत्ति और ससार की तुम्हे इतनी चिन्ता क्यो ? यदि ब्रह्मचर्य का पालन करने से ससार शून्य भी हो जावे तो इसमे किसी की क्या हानि है ? यदि पजोत्पत्ति न भी हुई या ससार का अन्त भी हो गया तब भी हर्ज क्या होगा ? तुम्हे तो केवल यह देखना चाहिये कि हमारा उद्धार, विवाह करने–पजा या मनुष्य–ससार बढने से होता है, या ब्रह्मचर्य पालन करने से? इस विषय मे गाधीजी लिखते है–'आदर्श ब्रह्मचारी को कामेच्छा या सन्तानेच्छा से कभी जूझना नही पडता, ऐसी इच्छा उसे होती ही नही। महाभारत के अनुसार भीष्मपितामह ने भी यही कहा था कि ब्रह्मचारी को ससार या सतान की इच्छा नही होती न इनकी उत्पत्ति या वृद्धि के लिए वह अपने ब्रह्मचर्य को ही नष्ट कर सकता है। इस प्रकार सब लोगो के लिये विवाह करना आवश्यक नही है, किन्तु जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने मे असमर्थ है अथवा जिन्हे पुण्य–फल की निर्जरा करनी है वे ही लोग विवाह करते है।

ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर अविवाहित रहने से हानि

आजकल, पाश्चात्य देशो के बहुत से स्त्री पुरुषो मे ऐसे विचार फैल रहे है कि विवाह करके स्वतन्त्रता खोने किसी एक के होकर रहने और बालक–बालिका आदि के पालन–पोषण तथा स्त्री आदि के स्थायी व्यय मे पडने की अपेक्षा यही अच्छा है कि थोडी देर के लिये किसी स्त्री या पुरुष से सम्बन्ध कर लिया जाय और काम–वासना पूरी करके उसे त्याग दिया जाय। ऐसे लोग सोचते हे कि विषय–भोग चाहे स्व–स्त्री तथा स्व–पति से किया जावे या पर–स्त्री तथा पर–पुरुष से किया जाय रज–वीर्य नष्ट होने की दृष्टि से तो दोनो समान ही है। बल्कि विवाहित–जीवन मे इस दृष्टि से और अधिक हानि है। क्योकि स्व–स्त्री या स्व–पति के साथ तो थोडी इच्छा होने पर भी दुर्विषय भोग करते है लेकिन पर–स्त्री या पर–पुरुष के साथ तो दुर्विषय तभी भोगेगे जब कामेच्छा बहुत प्रबल हो जाएगी और रोकने से न रुक सकेगा।

इस पकार की युक्तियो द्वारा पाश्चात्य देशो के बहुत से लोग विवाहित–जीवन की जिम्मेदारियो से बचने के लिए ओर स्वच्छन्द रहने के लिये ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर भी अविवाहित रहना अच्छा समझते हे। भारत

के कुछ लोग भी ऐसे ही विचारो के समर्थक है ओर पाश्चात्य लोगो की युक्तियो के साथ ही, यह दलील और पेश करते हैं कि स्व–स्त्री तथा स्व–पति के साथ मैथुन करने मे भी पाप होता है, और पर–स्त्री तथा पर–पति के साथ मैथुन करने मे भी पाप होता है, फिर विवाह क्यो किया जाय? बल्कि विवाह करने से अधिक पाप होता है। क्योकि विवाह–समय मे भी आरम्भ–समारम्भ होता है तथा विवाह के पश्चात् भी स्त्री को भोजन, वस्त्र आदि देने मे ओर सन्तान के पालन–पोषण, विवाह आदि मे आरम्भ–समारम्भ होता है। इस तरह आरम्भ–समारम्भ का पाप परम्परा के साथ ही बढता जाता है। इसलिये पर–स्त्री से मैथुन करने की अपेक्षा विवाह करने मे अधिक पाप है।' इत्यादि कुतर्क पैदा करते हैं।

इस प्रकार के विचार वाले लोग ब्रह्मचर्य के महत्त्व से तो अनभिज्ञ हैं ही, लेकिन विवाह के महत्त्व को भी नही समझ पाये हैं। वे समझते हैं कि विवाह केवल दुर्विषय–भोग के लिए ही है, इससे अधिक विवाह का कोई मूल्य ही नही है। अपनी इस समझ पर वे दूरदर्शिता से विचार नही करते। थोडी देर के लिए विवाह केवल विषय–भोग के लिये ही मान लिया जाय, तब भी यदि विवाह–प्रथा न होती, तो ससार मे अशान्ति का साम्राज्य छा जाता। मनुष्य स्वभावत अपने ऐसे प्रेमी के प्रेम मे किसी दूसरे का साझी होना नही सह सकता, इसलिए एक ही पुरुष को चाहने वाली अनेक स्त्रियाँ, या एक ही स्त्री को चाहने वाले अनेक पुरुष, आपस मे लड–लड कर मर जाते है। आज भी सुना जाता है कि एक वेश्या के पीछे अनेक नर–हत्याए होती है। यदि वही वेश्या किसी एक की होती तो सम्भवत ऐसी हिसा का समय न आता। इसी प्रकार विवाह–प्रथा न होने पर मनुष्य उस दाम्पत्य–प्रेम से सर्वथा वचित रह जाता, जो विवाहित पति–पत्नी मे हुआ करता है। विवाह की प्रथा का स्थान यदि नैमित्तिक सम्बन्ध को ही प्राप्त होता तो स्त्री–पुरुष एक दूसरे से उतने ही समय तक प्रेम करते एक–दूसरे की उतने ही समय तक परवाह करते जब तक कि विषय–भोग नही भोगा जा चुका हे या जब तक वह विषय–भोग भोगने के लिये लालायित हैं। विषय–भोग भोग चुकने पर या इस योग्य न रहने पर स्त्री–पुरुष एक–दूसरे की उसी प्रकार उपेक्षा करते, जिस प्रकार वेश्या की। उसका जार–पति और जार–पति की वेश्या उपेक्षा करती हे। विवाह प्रथा न होने पर और मनुष्य के स्वच्छन्द हो जाने पर सहानुभूति दया ओर प्रेम का भी सद्भाव न रहता। स्त्री–पुरुष अपने आप को उस समय तक तो सुखी मानते रहते हें जब तक कि उनमे विषय–भोग भोगने

की शक्ति है। लेकिन इस शक्ति के न रहने पर जीवन दु खमय, सहारा–हीन एव पश्चात्ताप–पूर्ण होता है। क्योकि ससार मे जनन–क्रिया (सन्तान प्रसव) को पेम दया सहानुभूति अहिसा आदि के पसार का ही बहुत श्रेय है। विवाह–पथा न होने पर सन्तान की जवाब–दारी से जिस पकार पुरुष बचना चाहते है उसी पकार स्त्रियॉ भी बचना चाहती। परिणामत या तो भ्रूण–हत्या होती या बाल–हत्या होती या सन्तति–निरोध के कृत्रिम उपायो से काम लिया जाता और धीरे–धीरे जनन–किया के साथ ही दया, प्रेम, अहिसा, सहानुभूति आदि का भी लोप हो जाता और ससार के प्रवाह का भी। विवाह–पथा का स्थान यदि स्त्री–पुरुष की स्वच्छन्दता को प्राप्त हो तो मनुष्यो का सासारिक–जीवन नीरस एव निरुद्देश्य हो जाय। उस समय अधिक से अधिक उद्देश्य अच्छी स्त्री या अच्छे पुरुष से काम–भोग भोगना ही होता और इस उद्देश्य के साधक कारणो को ही प्रोत्साहन दिया जाता। अहिसा सत्य, अस्तेय आदि सिद्धान्त इस उद्देश्य मे बाधक माने जाते, इसलिए इन्हे समूल नष्ट किया जाता जिससे ससार मे अशान्ति छा जाती और हाहाकार मच जाता। तात्पर्य यह कि यदि विवाह को केवल विषय–भोग के लिये ही माना जावे तब भी नैमित्तिक–सम्बन्ध की प्रथा होने पर सासारिक–जीवन शान्तिपूर्वक न बीत सकता।

विवाह विषय–भोग के लिये नही है

वास्तव मे विवाह दुर्विषय–भोग के लिये नही है, किन्तु ब्रह्मचर्य–पालन की कमजोरी को धीरे–धीरे मिटाकर ब्रह्मचर्य–पालन की पूर्ण क्षमता पाप्त करने के लिए ही है। यदि प्रतिक्षण बढने वाली दुर्विषय–भोग की लालसा को बिना विवाह किये ही विवेक से दबाने की शक्ति हो, तो विवाह करने की कोई आवश्यकता ही नही रहती। इस शक्ति के अभाव मे ही विवाह किया जाता है। जिस पकार यदि आग न लगने दी गई या लगने पर तत्क्षण बुझा दी गई तब तो दूसरा उपाय नही किया जाता और तत्क्षण न बुझा सकने पर–बढ जाने पर–उसको सीमित करके उसे बुझाने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिए जिस मकान मे आग लगी होती है, उस मकान से दूसरे मकानो का सम्बन्ध तोड दिया जाता है ताकि उनमे वह फेल न सके और इस प्रकार उसे सीमित करके फिर बुझाने का प्रयत्न किया जाता है। वह आग न लगने के समय ही न बुझाई जा सकी थी इस उपाय से बुझ जाती है ... नही पाती। यदि पहले ही आग न लगने दी जाती या लगने के समय

ही बुझा दी जाती तब तो इस सीमान्तर्गत घर की भी हानि न होती। लेकिन ऐसा न कर सकने पर, यदि आग को सीमित न कर दिया जाय, तो उसके द्वारा अनेक मकान भस्म हो जाते। ठीक यही दृष्टान्त विवाह के लिए भी है। यदि मनुष्य अपने मे कामवासना की आग उत्पन्न ही न होने दे या उत्पन्न होने के समय ही उसे विवेक द्वारा बुझा सके, तब तो विवाह की आवश्यकता ही नही रहती। लेकिन न दबा सकने पर उस आग को विवाह द्वारा सीमित कर दिया जाता है और फिर उसे बुझाने की चेष्टा की जाती हे। विवाह द्वारा कामेच्छा को सीमित कर देने से वह बढने नही पाती और इस प्रकार मनुष्य असीम हानि से बच जाता है। यदि विषयेच्छा की आग उत्पन्न न होने देने या विवेक द्वारा उसे दबा सकने की क्षमता न होने पर भी उत्पन्न विषयेच्छा की पूर्ति के लिए स्वच्छन्दता से प्रवृत्त बना जावे तो वह बढकर भयकर हानि पहुँचाने वाली हो जाती है। तात्पर्य यह हे कि विवाह दुर्विषयेच्छा को बढाने के लिए नही है किन्तु घटाने के लिए ही है। और स्वच्छन्दता से दुर्विषय–भोग की इच्छा बढती है, घटती नही। इसके सिवा विवाहित–जीवन बिताने मे दया, अनुकम्पा आदि उन सद्गुणो का भी बहुत कुछ विकास हो सकता है जिनका लाभ स्वच्छन्दता मे नही हो सकता। सन्तान को पालने–पोसने की दया विवाहित–जीवन मे ही की जाती है। स्वच्छन्द–जीवन मे तो उसने बचने के लिए सन्तान को नष्ट करने की ही इच्छा रहती है। इसलिए ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर दुराचार–पूर्ण जीवन श्लाध्य नही कहला सकता। इस विषय मे गाधीजी लिखते हैं–'यद्यपि महाशय ब्यूरो अखण्ड ब्रह्मचर्य को ही सर्वोतम मानते है, लेकिन सबके लिये यह शक्य नही हे इसलिए वेसे लोगो के लिए विवाह–बन्धन केवल आवश्यक ही नही वरन् कर्त्तव्य के बराबर है।" गाधीजी आगे लिखते हें–'मनुष्य के सामाजिक जीवन का केन्द्र एक पत्नी–व्रत तथा एक पतिव्रत ही हे।' यह तभी हो सकता हे, जब स्वच्छन्दता को बुरा समझा जावे ओर उसे विवाह–बन्धन द्वारा त्याग दिया जावे।

जो लोग पर–स्त्री–पति ओर स्व–स्त्री–पति के विषय–भोग म समान पाप मानते हें वे भी गलत रास्ते पर हें। स्व–स्त्री–पति ओर पर–स्त्री–पति के विषय–भोग मे प्रत्येक दृष्टि से बहुत ही अन्तर हे जिसका कुछ दिगदर्शन ऊपर कराया भी जा चुका हे। इसलिए ब्रह्मचर्य के अभाव मे अविवाहित जीवन सर्वथा निन्द्य हे।

विवाह पुरुष ओर स्त्री के आजीवन साहचर्य का नाम हे। यह साहचर्य काम–वासना की दवा ओर ब्रह्मचर्य के समीप पहुँचाने का साधन हे। पाश्चात्य विद्वान ब्यूरा लिखता हे कि "विवाह करके भी विषय–विलासमय

असयम धार्मिक और नैतिक, दोनो ही दृष्टि से अक्षम्य अपराध है। असयम से वैवाहिक–जीवन को ठेस पहुँचती है। सन्तानोत्पत्ति के सिवा और सभी प्रकार की काम–वासना–तृप्ति दाम्पत्य पेम के लिये बाधक और समाज तथा व्यक्ति के लिए हानिकारक है" इस कथन द्वारा ब्यूरो ने जैन–शास्त्रो के कथन को पुष्ट किया है। जैन–शास्त्र तो इसके आद्य प्रेरक ही है। गाधीजी भी लिखते है–"विवाह बन्धन की पवित्रता को कायम रखने के लिए भोग नही, किन्तु आत्म–सयम ही जीवन का धर्म समझा जाना चाहिये। विवाह का उद्देश्य, दम्पती के हृदयो से विकारो को दूर करके उन्हे ईश्वर के निकट ले जाना है।"

विवाह विषयक अधिकार

विवाह रूपी आजीवन साहचर्य ऐसे स्त्री–पुरुष का होता है, जो स्वभाव गुण आयु, बल वैभव, कुल और सौन्दर्य आदि को दृष्टि मे रखकर, एक दूसरे को पसन्द करे। स्त्री–पुरुष मे से किसी एक की पसन्दगी पर विवाह नही होता है किन्तु दोनो की पसन्दगी से किया हुआ विवाह ही विवाह के अर्थ मे माना जा सकता है। किसी एक की इच्छा ओर दूसरे की अनिच्छा पर होने वाला विवाह विवाह नही है। विवाह–बन्धन स्त्री और पुरुष दोनो की स्वेच्छा पर ही निर्भर है।

विवाह–सम्बन्ध स्थापित करने मे पुरुष और स्त्री के अधिकार समान ही है। अर्थात जिस प्रकार पुरुष स्त्री को पसन्द करना चाहता है, उसी प्रकार, स्त्री भी पुरुष को पसन्द करने की अधिकारिणी है। बल्कि इस समय मे स्त्रियो के अधिकार पुरुषो से भी अधिक है। स्त्रियॉ अपने लिए वर पसन्द करने को स्वयम्वर करती थी ऐसे प्रमाण तो जैन–शास्त्र और अन्य ग्रन्थो मे स्थान–स्थान पर मिलते है लेकिन पुरुषो ने अपने लिए स्त्री पसन्द करने को स्वयम्बर की ही तरह का कोई स्त्री–सम्मेलन किया हो ऐसा प्रमाण कही नही मिलता। इस प्रकार पूर्वकाल मे स्त्री की पसन्दगी को विशेषता दी जाती थी। फिर भी यह बात नही थी कि जिस पुरुष को स्त्री पसन्द करे पुरुष के लिए उसके साथ विवाह करना आवश्यक हो। स्त्री के पसन्द करने पर भी यदि पुरुष की इच्छा उसके साथ विवाह करने की नही है तो विवाह करने से इन्कार कर दना कोई नैतिक या सामाजिक अपराध नही माना जाता था न अब माना जाता है। विवाह के लिए स्त्री ओर पुरुष दानो ही को समान अधिकार हे ओर यह [illegible] पसन्द आने के कारण पुरुष स्त्री के साथ ओर स्त्री पुरुष क

साथ, विवाह करने के लिए नीति या समाज की ओर से बाध्य हो। विवाह तभी हो सकता है, जब स्त्री–पुरुष, एक दूसरे को पसन्द कर ले, ओर एक दूसरे के साथ विवाह करने के इच्छुक हो, इस विषय मे जबरदस्ती को जरा भी स्थान नही है।

ग्रन्थकारो ने, विशेषत तीन प्रकार के विवाह बताये हें। देव–विवाह, गन्धर्व–विवाह और राक्षस–विवाह। ये तीनो विवाह क्रमश उत्तम, मध्यम ओर कनिष्ठ माने जाते हैं। इन तीनो विवाहो की व्याख्या नीचे दी जाती है।

जो विवाह, वर और कन्या, दोनों की पसन्दगी से हुआ हो, जिसमे वर ने कन्या के और कन्या ने वर के गुण–दोष देखकर एक दूसरे ने, एक दूसरे को अपने समान माना हो तथा जिस विवाह के करने से वर और कन्या के माता–पिता आदि अभिभावक भी प्रसन्न हो, जो विवाह, रूप, गुण, स्वभाव आदि की समानता से, विधि ओर साक्षीपूर्वक हुआ हो और जिस विवाह मे, दाम्पत्य कलह का भय न हो तथा जो विवाह दुर्विषय–भोग की इच्छा से नहीं, किन्तु पूर्ण–ब्रह्मचर्य के आदर्श तक पहुँचने के उद्देश्य से किया गया हो उसे, देव–विवाह कहते हैं। यह विवाह उत्तम माना जाता है।

जिस विवाह मे वर ने कन्या को ओर कन्या ने वर को पसन्द कर लिया हो, एक दूसरे पर मुग्ध हो गये हो, किन्तु माता–पिता आदि अभिभावक की स्वीकृति के बिना ही, एक ने दूसरे को स्वीकार कर लिया हो एव जिसमे देश–प्रचलित विवाह, विधि पूरी न की गई हो उसे गन्धर्व विवाह कहते हे यह विवाह देवविवाह की अपेक्षा मध्यम और राक्षस–विवाह की अपेक्षा अच्छा माना जाता है।

राक्षस–विवाह उसे कहते है जिसमे वर और कन्या एक दूसरे को समान रूप से न चाहते हो किन्तु एक ही व्यक्ति दूसरे को चाहता हो, जिसमे समानता का ध्यान रक्खा गया हो जो किसी एक की इच्छा ओर दूसरे की अनिच्छापूर्वक जबरदस्ती या अभिभावक की स्वार्थ–लोलुपता से हुआ हो ओर जिसमे देश–प्रचलित उत्तम विवाह–विधि को ठुकराया गया हो तथा वेवाहिक नियम भग किये गये हो। यह विवाह उक्त दोनो विवाहो से निकृष्ट माना जाता हे।

विवाह–योग्य अवस्था

पहले बताया जा चुका हे कि कम से कम आयु का चोथा भाग, यानी 25 ओर 16 वर्ष की अवस्था तक तो पुरुष–स्त्री को अखण्ड–ब्रह्मचर्य का पालन करना ही चाहिय। इसके अनुसार विवाह की अवस्था 25 वर्ष ओर 16

वर्ष से कम नही ठहरती है। किसी भी ग्रन्थ मे विवाह–वय और सहवास वय का अलग उल्लेख नही पाया जाता, किन्तु विवाह और सहवास के एक ही साथ होने का पमाण मिलता है अर्थात् वही विवाह–वय और वही सहवास–वय। वैद्यक–ग्रन्थ कहते है –

पचविशे ततो वर्षे, पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वाऽगत वीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्।।

वीर्य और रज की अपेक्षा से, 25 वर्ष का पुरुष और 16 वर्ष की स्त्री परस्पर समान है इस बात को कुशल वैद्य ही जानते है।'

इसके अनुसार विवाह की अवस्था पुरुष की 25 वर्ष और स्त्री की 16 वर्ष ठहरती है। इस अवस्था मे स्त्री और पुरुष इस बात के निर्णय पर भी पहुच सकते है कि हम पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते है या नही? अर्थात् विवाह की आवश्यकता का अनुभव इस अवस्था या इससे अधिक अवस्था मे ही हो सकता है और जब तक आवश्यकता न जान पडे, तब तक विवाह करना धार्मिक और नैतिक दोनो ही दृष्टियो से अपराध है। जैन–शास्त्र पूर्ण ब्रह्मचर्य के पतिपादक हैं। इसलिए उनमे विवाह–विषयक विधि–विधान नही पाया जाता लेकिन जैनशास्त्रो मे वर्णित कथाओ से ही विवाह के विषय पर बहुत पकाश पडता है। जैनशास्त्रो मे वर्णित कथाओ से प्रकट है कि स्त्री–पुरुष का विवाह तभी हो सकता है जब वे विद्या कला आदि सीख चुके हो और उनके शरीर पर कामवासना का प्रभाव पडने लगा हो। औपपातिक सूत्र मे कहा है –

नवग सुत्त पडिबोहिए अट्ठारस देसीभासा विसारए गीयरती, गधव्व णट्ट कुसले हयजोही, गयजोही रहजोही, बाहुजोही, बाहुपमद्दी, वियालचारी, साहस्सीए अल भोग–समत्थे या वि भवई।

जिसके नव अग (2 कान 2 ऑख 2 नाक 1 जीभ 1 त्वचा और 1 मन काम–भोग के लिए) जागृत हुए हैं अपने–अपने विषय को ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न हो गई है जो अठारह देश की भाषाओ मे विशारद है गाने मे, रति–क्रीडा मे गन्धर्व–कला मे और नाटयकला मे कुशल है, अश्वयुद्ध गजयुद्ध रणयुद्ध बाहुयुद्ध साहसी एव निपुण और काम–भोग भोगने मे समर्थ हो गया है (उसका विवाह हुआ।)

इस पाठ से पुरुष की विवाह योग्य अवस्था पर बहुत अधिक प्रकाश पडता है। भगवती सूत्र मे भी विवाह का वर्णन करते हुए पति–पत्नी की [illegible] बाता [illegible] देखी जाती थी यह बताया गया है। उसमे कहा है –

सरिसयाण सरिसत्तयाण सरिसव्वयाण सरिस लावन्न रूप–जोव्वण–गुणोव वेयाण सरिसयाण कुलेहितो आणिल्लियाण

'समान याग्यता वाली, समान त्वचा वाली, समान आयु वाली समान लावण्य रूप, योवन ओर गुण वाली समान कुल की (कन्या क साथ विवाह हुआ।)

इसक अनुसार विवाह समान युवावस्था म ही हो सकता हे। यद्यपि उक्त प्रमाण मे समान आयु भी वतलाई गई हे, लेकिन उसके साथ ही समान योवन भी कहा गया हे आर ऊपर वेद्यक ग्रन्थ का हवाला देकर, यह भी वताया जा चुका हे कि 25 वर्ष की अवस्था का पुरुष तथा 16 वर्ष की अवस्था की स्त्री समान हे। स्थानाग सूत्र की टीका में भी कहा गया हे –

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री, पूणविशेन सगता।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे, रक्ते शुक्रेऽनिल हृदि।।
वीर्यवन्त सुतं सूते, ततो न्यूनाब्दयो पुन ।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा, गर्भो भवति नेव वा।।

5 वॉ स्थान 2 रा उद्देश्य।

जिसकी अवस्था 16 वर्ष की हो चुकी हे एसी स्त्री जिसकी अवस्था 20 वर्ष की हो चुकी हे ऐसे पुरुष स मिलने पर ओर रक्त वीर्य वायु, गर्भाशय–मार्ग तथा हृदय शुद्ध होन पर वीर्यवान पुत्र उत्पन्न करती हे। इससे कम अवस्था वाली स्त्री यदि कम अवस्था वाले पुरुष से सगम करे ता रोगी अल्पायुपी तथा आलसी सन्तान उत्पन्न करती हे या गर्भाधान ही नहीं होता।

यद्यपि यह कहने वाले टीकाकार ने पुरुष की अवस्था 20 वर्ष की ही वताई हे, लेकिन स्त्री की अवस्था तो 16 वर्ष ही कही हे। अर्थात जितने भी प्रमाण दिये गये हे उन सव से स्त्री की विवाह योग्य अवस्था 16 वर्ष स अधिक ही ठहरती हे कम नही। इस प्रकार पुरुष का विवाह 20 या 25 वर्ष आर स्त्री का विवाह 16 वर्ष की या इसस अधिक अवस्था म ही हो सकता हे कम अवस्था मे नही। कम अवस्था म विवाह हाने पर क्या हानि होती हे, यह वात आग वताई गई हे।

विवाह की सख्या

प्रकृति पर दृष्टिपात करन स यह वात स्पष्ट हे कि एक पुरुष एक ही स्त्री क साथ आर एक स्त्री एक ही पुरुष क साथ विवाह कर सकती हे अधिक क साथ नहीं। यद्यपि जन–शास्त्रा म ओर अन्य ग्रन्था म अधिक विवाह की वात वहुत मिलती ह लकिन अधिक स्त्रिया क साथ विवाह करना उस समय की सस्कृति थी आर उस समय क पुरुष अधिक स्त्रिया का हाना एक विशषता आर साभाग्य की वात मानत थ। उस समय की स्त्रिया भी

विशेषत ऐसे ही पुरुष को पसन्द करती थी, जो वैभवशाली, यशस्वी वीर और सुन्दर हो। ऐसे पुरुष की कितनी ही स्त्रिया क्यो न हो, उस समय की स्त्रिया इस बात की अपेक्षा नही करती थी। उस समय की सस्कृति कुछ भी रही हो ओर अधिक स्त्रियो के साथ विवाह करने का कुछ भी कारण क्यो न रहा हो, लेकिन आजकल ऐसा करना उचित नही कहला सकता। किसी भी व्यक्ति को, आजकल यह अधिकार नही है कि किसी भी वस्तु का उपभोग परिमाण से अधिक करे। इसके अनुसार, किसी पुरुष को अधिक स्त्रियो से और किसी स्त्री को अधिक पुरुषो से विवाह करना उचित नही है।

वैद्यक ग्रन्थो पर दृष्टि देने से भी यह ज्ञात होता है, कि एक पुरुष की काम–वासना तृप्त करने के लिए एक स्त्री और एक स्त्री की काम–वासना तृप्त करने के लिये एक पुरुष पर्याप्त है। न एक पुरुष अधिक स्त्रियो की काम–वासना शान्त कर सकता है न एक स्त्री अधिक पुरुषो की। इसके अनुसार भी एक पुरुष का अधिक स्त्रियो से और एक स्त्री का अधिक पुरुषो से विवाह होना अनुचित है।

पति–पत्नी पर उत्तरदायित्व

विवाहित–जीवन सुखपूर्वक निभाने की जिम्मेदारी स्त्री और पुरुष दोनो पर समान रूप से है। हॉ इसके लिए एक दूसरे का सहायक अवश्य है। फिर भी किसी ऐसे कार्य मे जिसका दुष्प्रभाव अपने आप पर ही नही, किन्तु भावी सन्तान या दूसरे लोगो पर भी पडता है उसमे सहायता करना नैतिक सामाजिक ओर धार्मिक तीनो ही दृष्टियो से अपराध है। उदाहरण के लिए सन्तान के बालक होने (पर्याप्त आयु की न होने) पर भी पुरुष का स्त्री को ओर स्त्री का पुरुष को पसन्न करने के लिए–उसकी इच्छा पूरी करने के लिए–मैथुन मे प्रवृत्त होना। ऐसा करने से एक छोटे बालक की माता गर्भवती हो सकती है जिससे उस छोटे बालक का विकास मारा जाता है उसे रोग घेर लेते है ओर गर्भ का बालक भी पुष्ट नही होता किन्तु क्षीण दशा मे पहुँचता जाता है। इस प्रकार दोनो ही बालको का जीवन कष्टमय हो जाता है इसलिए ऐसे कार्यो मे दम्पती का एक दूसरे की सहायता करना भी अपराध ही है।

आधुनिक विवाह

विवाह कब, किस अवस्था मे ओर किन नियमो के साथ होता है, यह थोडे मे बताया जा चुका हे। अब यह देखना हे कि आजकल की विवाह-प्रथा क्या है ? विवाह के नियमादि का पालन किस प्रकार किया जाता है ? ओर यदि उन नियमो की अवहेलना की जाती है तो क्या हानि होती हे ? यह देखने के लिये इस प्रकरण को बाल-विवाह ओर बेजोड विवाह, इन दो भागो मे विभक्त करके क्रमश दोनो पर विचार किया जाता है।

बाल-विवाह

पूर्व प्रकरण मे यह बताया जा चुका है कि पुरुष और स्त्री की, विवाह-योग्य कम से कम अवस्था 20 या 25 और 16 वर्ष है। इसके साथ ही यह भी बताया गया है कि पुरुष और स्त्री किस योग्य हो, तब विवाह होता है। आधुनिक समय के विवाहो मे पूर्व-वर्णित विवाह-नियमो की अवहेलना की जाती है। यद्यपि पुरुष-स्त्री विवाह-बन्धन मे तभी बध सकते हैं, जब वे आजीवन ब्रह्मचर्य पालने की अपनी अशक्तता का अनुभव कर ले। लेकिन आज के विवाहो मे ऐसे अनुभव के लिए समय ही नही आने दिया जाता। जेन-समाज मे ही नही किन्तु भारत के अधिकाश लोगो मे पुरुष-स्त्री युवक-युवती होने के बदले बालक-बालिका का ही विवाह किया जाता हे। अधिकाश बालक-बालिका के माता-पिता अपने बच्चो का विवाह ऐसी अवस्था मे कर देते हें जबकि वे बच्चे विवाह की आवश्यकता, उसकी जबरदस्ती ओर उसका भार समझने के लिये अयोग्य ही नही किन्तु इस ओर से ही अनभिज्ञ होते हे। यद्यपि बालक-वालिकाओ की वह अवस्था, खेलने-कूदने योग्य हे लेकिन उनके माता-पिता उन बच्चो के अन्य-अन्य खेल-कूद देखने क साथ ही साथ विवाह का खेल देखने की लालसा से अपने दुधमुहे बच्चे क जीवन का सर्वनाश कर देते हें।

अभागे भारत मे, ऐसे—ऐसे बालक—बालिकाओ के विवाह सुने जाते है जिनकी अवस्था एक वर्ष से भी कम होती है। अपने बालक या बालिका को दूल्हे या दुल्हिन के रूप मे देखने को लालायित मा—बाप, अपनी जवाबदारी और सन्तान की भावी उन्नति सब को, बाल—विवाह की अग्नि मे भस्म कर देते है। अपने क्षणिक सुख के लिए अपने अबोध बालको को भोग की धधकती हुई ज्वाला मे भस्म होने के लिए छोड देते है और अपनी सन्तान को उसमे जलते देख कर भी, आप खडे—खडे हॅसते तथा यह अवसर देखने को मिला, इसके लिए अपना अहोभाग्य मानते है।

आज के अधिकाश लोगो को यह भी पता नही है कि हमारा विवाह कब, किस प्रकार और किस विधि से हुआ था, तथा विवाह के समय हमे कौन—कोनसी प्रतिज्ञाए करनी पडी थी। उन्हे पता भी कहॉ से हो? वे जाने भी तो कैसे? उनका विवाह तो तब हुआ होगा, जब वे मॉ की गोद मे बैठकर दूध पिया करते होगे, नगे शरीर बच्चो के साथ खेला करते होगे और विवाह तथा वधू किस जानवर का नाम है, अपनी बुद्धि से यह भी न जानते होगे। उन्हे घोडे पर और मण्डप के नीचे उसी प्रकार बैठा दिया गया होगा, जिस प्रकार मन्दिरो मे मूर्तिया बैठा दी जाती है। जब ब्राह्मण लोग पति—पत्नी के परस्पर के वचनो का पाठ कर रहे होगे, तब वे, नाई और नाइन की गोदी मे सो रहे होगे। जब उन्हे भॉवरे दिलाई जाती होगी—यानी फेरे दिये जाते होगे—तब वे अपने पैरो से नही, किन्तु नाई या नाइन के पैरो से चलते रहे होगे। ऐसी दशा मे वे विवाह की बाते जाने और बतावे तो कहा से?

एक सज्जन कहते थे कि मुझे एक विवाह मे सम्मिलित होने का मौका मिला। उस विवाह मे पति और पत्नी दोनो ही अल्पवयस्क थे। रात के समय जब विवाह हो रहा था तब कन्या मण्डप मे ही सो गई। लग्न के समय कन्या की मा ने कन्या को जगाते हुए कहा कि बेटी ! उठ तेरे लग्न करे। लडकी की अवस्था ऐसी थी कि वह 'लग्न' शब्द को ही न जानती थी। मा के जगाने पर लडकी ने मा से कहा कि—मुझे तो नीद आती है तू अपने ही लग्न कर ले। यह कहकर लडकी फिर सो गई और अन्त मे उसका विवाह निद्रावस्था मे ही हुआ।

विचारने की बात है कि जो बालक—बालिका लग्न या विवाह का नाम भी नही जानते उनका विवाह कर देने पर वे विवाह—सम्बन्धी नियमो का पालन किस प्रकार कर सकेगे? उन्हे जब अपने विवाह का ही पता नही है तब वे विवाह-विषयक प्रतिज्ञाओ को क्या जाने और उनका पालन कैसे करे?

सच्ची बात तो यह हे कि इस प्रकार की अवोध अवस्था मे होने वाले विवाह को विवाह कहना ही अन्याय हे।

जवाई या बहू के शोकीन मा–वाप ओर मालताल के चट्टू बाराती, बालक ओर बालिका रूपी छोट–छोटे बछडो को सासारिक जीवन की गाडी मे जोत कर आप उस गाडी पर सवार हो जाते हें। अर्थात् सासारिक जीवन का बोझ उन पर बलात् डाल देते हैं। अपनी स्वार्थ–भावना के अधीन बने वे लोग नीति की (बाल–विवाह–विरोधी) बातो को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हे, उनका उपहास करते हैं और उन्हे पददलित कर डालते हें। यद्यपि वे यह सब कुछ करते हैं अच्छा समझकर, हर्ष तथा प्रसन्नता के लिए ओर अपनी सन्तान को सुखी बनाने के लिए, लेकिन वास्तव मे ऐसे लोग जिस बाल–विवाह को अच्छा समझते हैं वह कभी–कभी बहुत ही बुरा, जिसे हर्ष का कारण समझते हैं, वही शोक का कारण और जिसे सन्तान को सुखी बनाने का साधन मानते हैं, वही सन्तान को दु खी बनाने का उपाय भी हो जाता हे। कुछ लोग इस बात को समझते भी होगे, लेकिन सामाजिक नियमो से विवश होकर या देखा–देखी, बाल–विवाह के घोर पातकमय कार्य मे प्रवृत्त होते हैं और सामाजिक नियम तथा अनुकरण करने वाले स्वभाव के लट्ठ से (बुद्धि को–विवाह करने तक के वास्ते) दूर खदेड आते हें।

नाती–पोते द्वारा अपने जीवन को सुखी मानने वाले लोग अपनी सन्तान का बाल्यावस्था मे विवाह करके ही सन्तोष नही करते किन्तु विवाह के समय मे ही–या कुछ ही दिन पश्चात् अबोध पति–पत्नी को उनका उज्ज्वल और सुखमय भविष्य, काला ओर दु खमय बनाने के लिए एक कोठरी मे भी बन्द कर देते हैं। उन बालक–बालिका मे प्रारम्भ से ही ऐसे सस्कार डाले जाते हें जिनके कारण वे अयोग्य अवस्था मे ही मेथुन से स्नेह करने लगते हैं। इस प्रकार के सस्कारो मे यदि कुछ कमी रह जाती है, तो उसकी पूर्ति विवाह–समय के गीतो से पूरी हो जाती हे ओर वे बालक–बालिका अपने माता–पिता की पोते–पोती विषयक लालसा पूरी करने के लिए दुर्विषय–भोग के अथाह सागर मे–अशक्त होते हुए भी–कूद पडते हें।

धार्मिक दृष्टि से बाल–विवाह

कुछ लोगा ने बालविवाह की पुष्टि के लिए धर्म की भी ओट ले रखी हे ओर वालविवाह न करना धार्मिक दृष्टि से अपराध वतलाया जाता हे। लेकिन जो लोग बालविवाह का धार्मिक रूप देते हे, उन्ही के ग्रन्था म लिखा हे –

अज्ञात पतिमर्यादा मज्ञात पतिसेवनाम्।
नोद्वाहयेत्पिता बालामज्ञात धर्म शासनाम्।।

— हेमाद्रि।

पिता, ऐसी कम अवस्था वाली कन्या का विवाह कदापि न करे जो पति की मर्यादा पति की सेवा और धर्म शासन को न जानती हो।'

इसके सिवा आवश्यक ब्रह्मचर्य के विषय मे, मनुस्मृति का जो प्रमाण दिया गया है उससे भी बाल-विवाह का निषेध ही होता है। बाल-विवाह न करने को धार्मिक अपराध बताने वाले लोग, 'अष्ट-वर्षा भवेद् गौरी' आदि का जो एक पाठ पमाण-रूप बताते हैं, मनुस्मृति और हेमाद्रि के उक्त प्रमाणो से, बाल-विवाह का विधान करने वाला वह पाठ प्रक्षिप्त ठहरता है। जान पडता है कि यह पाठ उस समय बनाया गया है जब भारत मे मुसलमानो का जोर था और वे लोग स्त्रियो और विशेषत अविवाहित युवतियो का बलात् अपहरण करते थे। मुसलमानो से स्त्रियो की रक्षा करने के लिए ही सम्भवत यह पाठ बनाया गया था क्योकि मुसलमान लोग, विवाहित स्त्रियो की अपेक्षा अविवाहित-स्त्रियो का अपहरण अधिक करते थे। इसलिये विवाह हो जाने पर स्त्रियाँ इस भय से बहुत कुछ मुक्त समझी जाती थी।

यद्यपि मुसलमानी काल मे बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित अवश्य हो गई थी लेकिन आजकल की भाँति अल्प वयस्क पति-पत्नी को विवाह-समय मे ही सहवास नही कराया जाता था। किन्तु सहवास का समय विवाह समय से भिन्न होता था। आज मुसलमान काल की सी स्थिति न होने पर भी बाल-विवाह प्रचलित है और सहवास की भी कोई निश्चित अवस्था नही है।

तात्पर्य यह है कि बाल-विवाह किसी भी धर्म के शास्त्रो मे उचित या आवश्यक नही बताया गया है किन्तु ऐसे विवाहो का निषेध ही किया गया है।

बाल-विवाह से हानि

बाल-विवाह द्वारा प्राचीन विवाह-नियम भग करने वालो को प्रकृति-दत्त दण्ड भी भोगना पडता है। प्रकृति अपने नियम भग करने वाले के साथ किंचित भी नर्मी का व्यवहार नही करती किन्तु दण्ड देती है। अत अब हम देखते है कि बाल-विवाह के कारण प्रकृति द्वारा कोनसा दण्ड मिलता है यानी बाल-विवाह से क्या-क्या हानि होती है।

[illegible] से पूर्व स्त्री-पुरुष का रज-वीर्य अपरिपक्व रहता है। [illegible] समय से पूर्व दाम्पत्य सहवास से अपरिपक्व रज-वीर्य नष्ट

होता है। अपरिपक्व रज–वीर्य नष्ट होने से शरीर की रस से लेकर मज्जा तक सभी धातुए शिथिल हो जाती है, जिससे शारीरिक विकास रुक जाता हे, सोन्दर्य, उत्साह, प्रसन्नता ओर अगो की शक्ति घट जाती हे। आयुर्बल भी कम हो जाता हे, रोग–शोक घेरे रहते हें, असमय मे ही दॉत गिर जाते हें, बाल पकने लगते हें तथा आखो की ज्योति क्षीण हो जाती हे। थोडे ही दिनों मे पुरुष नपुसक ओर स्त्री स्त्रीत्व–रहित हो जाती हे। इस प्रकार पति–पत्नी का जीवन दु खमय हो जाता हे।

रही सन्तानोत्पत्ति की बात। इस विषय मे वेद्यक–ग्रथ कहते हें–

ऊनषोडश वर्षायाम् अप्राप्त पच विशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भ कुक्षिस्थ स विपद्यते।।
जातो वा न चिरंजीवे ज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रिय।
तस्मादत्यन्त बालाया गर्भाधान न कारयेत्।।

सुश्रुत

'यदि सोलह वर्ष से कम अवस्था वाली स्त्री से 25 वर्ष से कम अवस्था वाला पुरुष गर्भाधान करे तो वह गर्भ उदर मे ही नाश को प्राप्त होता है। यदि उस गर्भ से सन्तान उत्पन्न भी हुई तो जीवित नहीं रहती हे ओर जीवित भी रही तो अत्यन्त दुर्वल अग वाली होती हे। इसलिये कम आयु वाली स्त्री मे कभी गर्भाधान न करना चाहिए।'

इस प्रकार सन्तानोत्पत्ति के लिए भी वाल–विवाह घातक ही हे। इगलेंड मे मनुष्यो की ओसत आयु 51 ओर वाल–मरण प्रति–सहस्त्र 75 हे, लेकिन भारत के मनुष्यो की ओसत आयु केवल 23 वर्ष ओर वाल–मरण प्रतिसहस्त्र 194 हे। इस महान् अन्तर का कारण यही हे कि इगलेंड मे वाल–विवाह की घातक प्रथा नही हे लेकिन भारत मे इस प्रथा ने अधिकाश लोगो के हृदय मे अपना घर वना लिया हे। पोत्रादि के इच्छुक लोग अपने वालक–वालिका का विवाह करते तो हें–पात पोती के सुख की अभिलाषा स लकिन असमय मे उत्पन्न सन्तान मृत्यु के मुख म जाकर ऐसे लोगो को ओर विलाप करने के लिये छाड जाती हे अपने माता–पिता को अशक्त वना जाती हे तथा इस प्रकार स उन्ह अपन दुष्कृत्यो का दण्ड दे जाती हे। इगलेंड की अपेक्षा भारत क लोगा की ओसत आयु कम हान क कारणवाल–विवाह द्वारा होन वाल राग आर असमय के वीर्य–पात स हान वाली कमजोरी हे। इसी घातक–प्रथा क कारण अनक स्त्रियॉ प्रसवकाल म ही परलोक को प्रस्थान कर जाती हें या सदा क लिए राग–ग्रस्त हा जाती हें ओर फिर रोगी सन्तान उत्पन्न करक भावी सन्तति क लिए काट विछा जाती हे।

बाल–विवाह के विषय मे गाधीजी लिखते हैं कि हिन्दुस्तान को छोडकर और किसी भी देश मे बचपन से ही विवाह की बाते बालको को नही सुनाई जाती। यहा तो माता–पिता की एक ही अभिलाषा रहती है कि लडके का विवाह कर देना। इससे असमय मे ही बुद्धि और शरीर का ह्रास होता है। हम लोगो का जन्म भी प्राय बचपन के ब्याहे माता–पिता से हुआ है। हमे ऐसा लोकमत बनाने की जरूरत है कि जिसमे बाल–विवाह असम्भव हो जावे। हमारी अस्थिरता, कठिन और अविरल श्रम से अनिच्छा, शारीरिक अयोग्यता, शान से शुरू किये गये कामो को अधर मे छोड बैठना और मौलिकता का अभाव इत्यादि, इन सब के मूल मे मुख्यत हमारा अत्यधिक वीर्यनाश ही है।

गाधीजी आगे लिखते हैं कि–'जो मा–बाप अपने बच्चो की सगाई बचपन मे ही कर देते हैं, वे उन बच्चो को बेचकर घातक बनते है। अपने बच्चो का लाभ देखने के बदले वे अपना ही अन्धस्वार्थ देखते हैं। उन्हे तो बडा बनना है अपनी जाति–बिरादरी मे नाम कमाना है, लडके का ब्याह करके तमाशा देखना है। लडके का हित देखे तो उसका पढना–लिखना देखे, उसका जतन करे, उसका शरीर बनावे। घर–गृहस्थी की खटखट मे डाल देने से बढकर उसका दूसरा कौनसा बडा अहित हो सकता है ?'

यदि यह कहा जावे कि धार्मिकता की दृष्टि से विवाह तो बचपन मे कर दिया जाता है लेकिन सहवास नही होता है, तो पहले यह कथन सर्वथा नही तो बहुत अशो मे गलत है। क्योकि प्राय विवाह समय मे ही सहवास होना सुना जाता है। कदाचित् उस समय सहवास न होता हो तो फिर बचपन मे विवाह किस दृष्टि से किया जाता है? ऐसे विवाह का विधान तो किसी भी धर्म के शास्त्र नही करते और ऐसे विवाह प्रत्यक्ष ही हानिप्रद है। बचपन मे ब्याहे गये पति–पत्नी की अवस्था मे विशेष अन्तर नही होता। जिस समय कन्या युवती मानी जाती है उस समय उसका पति युवावस्था मे पदार्पण भी नही कर पाता। बहू युवती है इस लोक–लाज के भय से, माता–पिता की दृष्टि मे अपने अल्पवयस्क पुत्र के लिए स्त्री–सहवास आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार उस हानि से बचा नही जा सकता जो बाल–विवाह से होती है। इसके सिवा बचपन मे विवाह् गये पति–पत्नी आगे चलकर कैसे–कैसे स्वभाव के होंगे उनके रूप गुण शारीरिक विकास शक्ति आदि मे कैसी विषमता होगी इसे कोई नही जान सकता। पति–पत्नी मे विषमता होने पर उनका जीवन भी क्लेशमय ही बीतता है।

आवश्यकता उत्पन्न हो जाती हे। इस प्रकार लालसा का कही अन्त नही। चादी के बन गये तो सोने क आभूषणों की कमी रहती हे। यदि भाग्यवश सोने के भी वन गये तो हीरा–माणिक के आभूषणो की इच्छा बलवती हो उठती है। इस प्रकार तृष्णा आकाश के समान असीम हे। उस तृष्णा को सीमित कर लेना ही परिग्रह परिमाणव्रत हे।

परिग्रह की व्युत्पत्ति करते हुए शास्त्रकारो ने कहा हे–'परिग्रहण–परिग्रह। अर्थात् जिसे ग्रहण किया जाय वह परिग्रह' है। ग्रहण उसे ही किया जाता हे जिससे ममत्व है। जिससे किसी प्रकार का ममत्व नहीं है उस वस्तु को ग्रहण नही किया जाता, न पास ही रखा जाता हैं। इस प्रकार जिसका ममत्व भाव से ग्रहण किया जाता हे वही 'परिग्रह' हे।

परिग्रह का अर्थ ममत्व भाव हे, इसलिए जिनसे ममत्व–भाव हे वे समस्त वस्तुऍ परिग्रह मे हें। जिसके प्रति ममत्व–भाव होने से जन्म–मरण की वृद्धि होती है, जो आत्मा को उन्नत होन से रोकता हे ओर जो मोक्ष मे बाधक है वही पदार्थ परिग्रह हे। फिर चाहे वह पदार्थ जड हो चेतन हो, रूपी हो, अरूपी हो ओर समस्त लोक जितना बडा हो अथवा परमाणु जेसा छोटा हो। जो क्रोध, मान माया, लोभ का उत्पादक हे वही प्ररिग्रह हे। शास्त्रकारो का कथन हे कि ज्ञान ससारबन्धन से मुक्त करन वाला हे लेकिन यदि उसके कारण किंचित् भी अभिमान उत्पन्न हुआ है तो वह ज्ञान भी परिग्रह हे। धर्म पालन के लिए शरीर का होना आवश्यक है परन्तु यदि शरीर पर थोडा भी ममत्व हे तो शरीर परिग्रह हे। इस प्रकार जिसके प्रति ममत्व–भाव हे जिससे काम क्रोध लोभ या मोह का जन्म होता हे वह परिग्रह हे। परिग्रह आत्मा क लिए वह बन्धन हे जिससे आत्मा पुन –पुन जन्म–मरण करता हे। परिग्रह आत्मा के लिए वह बोझ हे जा आत्मा को उन्नत नही होने देता ओर मोक्ष की ओर नही जाने देता ससार के चक्रव्यूह मे ही फसाय रखता हे।

परिग्रह के भेद

शास्त्रकारो ने परिग्रह के बाह्य ओर आभ्यन्तर एस दो भद किय हे। उन्होन आभ्यन्तर परिग्रह म मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय आदि को माना हे। जिनकी उत्पत्ति मुख्यत मन स हे ओर जिनका निवासस्थान भी मन ही हे अर्थात जो मन अथवा हृदय स ही सम्बध रखत हें ओर विचार रूप हे उन सब की गणना आभ्यन्तर परिग्रह म हे। बाह्य परिग्रह क भी दो भद किय गये हें– जड ओर चतन। जड म व समस्त पदार्थ आ जाते हे। जिनम जान नही हे जो निर्जीव हे। जेसे–वस्त्र पात्र चादी सोना सिक्का मकान

किये जाते है, अर्थात हमारी लडकी या हमारे लडके के ससुराल इस प्रकार के घरानेदार या कुलवान होगे, इसलिए भी बेजोड–विवाह किये जाते है।

कई माता–पिता लोभ के वश होकर अपनी सन्तान का हिताहित नही देखते और उसका विवाह ऐसे वर या ऐसी कन्या के साथ कर देते है। कई माता–पिता अपनी अबोध कन्या को वृद्ध तक के गले मढ देते है। विशेषत वे धन के लिए ही ऐसा करते है, यानि कन्या के बदले मे द्रव्य लेने के लिए। द्रव्य–लालसा के आगे वे इस बात को विचारने की भी आवश्यकता नही समझते कि इन दोनो मे परस्पर मेल रहेगा या नही, तथा हमारी कन्या कितने दिन सुहागिन रह सकेगी। उन्हे तो केवल द्रव्य से काम रहता है, उनकी तरफ से कन्या की चाहे कैसी ही दुर्दशा क्यो न हो?

विवाह और पत्नी के इच्छुक वृद्ध भी यह नही देखते कि मै इस तरुणी के योग्य हूँ या नही और यह तरुणी मुझे पसन्द है या नही। विद्वानो का कथन है –

वृद्धस्य तरुणी विषम्।

–सूक्ति।

वृद्ध को तरुणी विष के समान है।'

इसका उल्टा यह होगा कि तरुणी को वृद्ध विष के समान लगता है। जब पति–पत्नी एक दूसरे को विष के समान बुरे लगते हो, तब उनका जीवन सुखमय कैसे बीत सकता हे ? लेकिन इस बात पर न तो धन–लोभी माता–पिता ही विचार करते है न स्त्री–लोभी वृद्ध और न भोजन–लोभी बाराती या पच। केवल धन के बल से एक वृद्ध उस तरुणी पर अधिकार कर लेता है। जिसका अधिकारी एक युवक हो सकता था और इसी प्रकार माता–पिता की धन–लोलुपता से एक तरुणी का अपना जीवन वृद्ध के हवाले कर देना पडता है जिस जीवन को वह किसी युवक के साथ रहकर बिताने की अभिलाषा रखती थी।

एक वृद्ध अमीर की स्त्री का देहान्त हो गया। अमीर के दोस्तो ने उस से दूसरा विवाह करने के लिए कहा। अमीर ने उत्तर दिया कि मै किसी बुडढी स्त्री के साथ विवाह नही कर सकता मुझे बुडढी स्त्री पसन्द नही। दोस्तो ने उत्तर दिया आपको बुडढी स्त्री के साथ विवाह करने के लिए कौन कहता है आप तरुणी के साथ विवाह कीजिये। हम आपके लिए तरुणी की तलाश कर देगे। दोस्तो की बात सुनकर वृद्ध अमीर ने कहा कि–जब मुझ बुड्ढे को बुडढी स्त्री पसन्द नही है तो क्या वह तरुण बाला मुझ बुडढे को पसन्द [illegible]

करेगी? यदि नही, तो फिर जबरदस्ती से क्या लाभ? अमीर की बात सुनकर दोस्तो को शर्मिदा होना पडा और उन्होने अमीर के विवाह की बात छोड दी।

बेजोड विवाह

वृद्ध पुरुष के साथ तरुण बाला के विवाह के समान ही धन या कुल के लोभ से बालक पुरुष के साथ तरुणी या तरुण पुरुष के साथ बालिका भी विवाह दी जाती हे। ये समस्त विवाह बेजोड हें। ऐसे विवाह समाज मे भयकर हानि फैलाने वाले, भावी सन्तति का जीवन दु खप्रद बनाने वाले और पारलौकिक–जीवन को कटकाकीर्ण करने वाले हैं।

बेजोड–विवाह से होने वाली समस्त हानियो का वर्णन करना शक्ति से परे की बात है, फिर भी सक्षेप मे कुछ हानियाँ बताई जाती हैं। बेजोड विवाह से कुल की हानि होती है, विधवाओ की सख्या बढती है जिससे व्यभिचार–वृद्धि के साथ ही आत्म–हत्या, भ्रूण–हत्या आदि होती रहती हें और अन्त मे अनेक विधवाऍ वेश्याऍ बन कर अपना जीवन घृणित रीति से बिताने लगती हैं। समाज मे स्त्रियो की कमी होने से कई युवक अविवाहित रह जाते हैं और दुराचारी बन जाते हैं। बेजोड पति–पत्नी से उत्पन्न सन्तान भी अशक्त, अल्पायुषी और दुर्गुणी होती है।

जैन–शास्त्रो मे ऐसा एक भी प्रमाण नही मिलता जो बेजोड विवाह का पोषक हो। अन्य ग्रन्थो मे भी बेजोड–विवाह का निषेध ही किया गया है। जैसे –

कन्या यच्छति वृद्धाय नीचाय धनलिप्सया।
कुरूपाय कुशीलाय स प्रेतो जायते नर ।।

स्कन्दपुराण।

'जो पिता अपनी कन्या वृद्ध नीच, धन–लोलुपी, कुरुप ओर कुशील पुरुष को देता है वह प्रेत–योनि मे जन्म लेता है।

इसी प्रकार कन्या–विक्रय के विषय मे कहा है –

अल्पेनापि हि शुल्केन पिता कन्या ददाति य ।
रौरवे बहु वर्षाणि पुरीष मूत्रमश्नुते।।

आपस्तम्ब स्मृति।

कन्या देकर वदले मे थोडा भी धन लेने वाला पिता वहुत वर्ष तक रौरव नरक म निवास करके विष्ठा–मूत्र खाता रहता हे।'

आधुनिक अनमल विवाह–प्रथा की ओर भी वहुत समालोचना की जा सकती हे लेकिन विस्तार–भय स एसा नही किया गया। यहॉ तो सक्षिप्त

मे केवल यह बताया गया है कि आजकल की विवाह प्रथा, पहले की विवाह–पथा से बिल्कुल भिन्न है और इस भिन्नता से अनेक हानियाँ हैं।

विवाह मे अपव्यय

अधिकाश आधुनिक विवाहो मे अपव्यय भी सीमातीत होता है। आतिशबाजी, रण्डी, बाजे, बारात और ज्ञाति–भोजनादि मे इतना अधिक द्रव्य उडाया जाता है कि जितने दव्य से सैकडो–हजारो लोग वर्षो तक पल सकते है। धनिक लोग विवाह के अपव्यय द्वारा गरीबो के जीवन–मार्ग मे कॉटे बिछा देते है। धनिको के आडम्बर–पूर्ण विवाह को आदर्श मानकर अनेक गरीब भी कर्ज लेकर विवाह का आडम्बर करते हैं और धनिको द्वारा स्थापित इस आदर्श की कृपा से अपने जीवन को चिरकाल के लिए दु खी बना लेते है। विवाह के अपव्यय मे धन की ही हानि नही होती, किन्तु कभी–कभी जन की भी हानि हो जाती है। बहुत से लोग खाने–पीने की अनियमितता से बीमार होकर मर जाते है और बहुत से आतिशबाजी की अग्नि मे झुलस कर विवाह की भेट हो जाते हैं। कई युवक विवाह मे आई हुई वेश्याओ के ही शिकार बन जाते है। इस प्रकार आजकल की विवाह–पद्धति द्वारा अपना ही सर्वनाश नही किया जाता, किन्तु दूसरो के सर्वनाश का भी कारण उत्पन्न कर दिया जाता है।

एक प्रश्न

आजकल समाज के सन्मुख विधवा–विवाह का जो प्रश्न उपस्थित है उसके मूल कारण बाल–विवाह, बेजोड–विवाह और विवाह की खर्चीली पद्धति ही है। बाल–विवाह एव बेजोड–विवाह के कारण एक ओर तो विधवाओ की सख्या बढ जाती है और दूसरी ओर बहुत से पुरुष अविवाहित ही रह जाते है। इसी प्रकार विवाह की खर्चीली पद्धति के कारण भी अनेक गरीब परन्तु योग्य युवक भी अविवाहित रह जाते हैं क्योकि उनके पास वैवाहिक आडम्बर करने को द्रव्य नही होता। यदि बाल–विवाह और बेजोड विवाह बन्द हो जावे विवाहो मे अधिक खर्च न हुआ करे, तो विधवाओ और अविवाहित पुरुषो की बढी हुई सख्या न रहने पर सम्भवत विधवा–विवाह का प्रश्न आप ही हल हो जाय।

साराश यह कि पूर्व समय मे विवाह तब किया जाता था, जब पति–पत्नी सर्वविरति–ब्रह्मचर्य पालने मे अपने को असमर्थ मानते थे। अर्थात्

विवाह कोई आवश्यक कार्य नही समझा जाता था, लेकिन आजकल विवाह एक आवश्यक कार्य माना जाता है। जीवन की सफलता विवाह मे ही समझी जाती है। जब तक लडके–लडकी का विवाह न हो जावे, तब तक वे दुर्भागी समझे जाते हैं। इसी कारण आवश्यकता ओर अनुभव के बिना ही विवाह कर दिया जाता है और वह भी बेजोड तथा हजारो–लाखो रुपये व्यय करके धूमधाम के साथ। पूर्व समय की विवाह–प्रथा समाज मे शान्ति रखती थी, समाज को दुराचार से बचाती थी ओर अच्छी सन्तान उत्पन्न करके समाज का हित साधन करती थी। आजकल की विवाह–प्रथा इसके विपरीत कार्य करती है। बाल–विवाह, बेजोड विवाह और विवाह की खर्चीली पद्धति, समाज मे अशान्ति उत्पन्न करती हे, लोगो को दुराचार मे प्रवृत्त करती हे ओर रुग्ण एव अल्पायुषी सन्तान द्वारा समाज का अहित करती हे।

समाधान

वैवाहिक–विषय के वर्णन से कोई यह कह सकता है कि साधुओ को इन सासारिक बातो से क्या मतलब? और वे ऐसी बातो के विषय मे उपदेश क्यो दे ? इसका उत्तर यह हे कि यद्यपि इन सासारिक बातो से साधु लोग परे है लेकिन साधुओ का धार्मिक जीवन नीति–पूर्ण ससार पर ही अवलम्बित है। यदि ससार मे सर्वत्र अनीति छा जावे, तो धार्मिक जीवन के लिए स्थान भी नही रह सकता। इसी दृष्टिकोण से–विवाह की विधि बताने के लिए ही शास्त्रो की कथा मे, विवाह– बन्धन मे जुडने वाले स्त्री–पुरुष की समानता आदि का वर्णन किया है। यह बात दूसरी हे कि उनमे बाल–विवाह, असमय के सहवास आदि का निषेध नही है। लेकिन उस समय इस प्रकार की कुप्रथाएँ थी ही नही, इसलिए इस प्रकार के उपदेश की भी आवश्यकता न थी। अन्यथा पूर्ण ब्रह्मचर्य का ही विधान करने वाले होने पर भी जेन–शास्त्र ऐसे अपूर्ण नही हें कि उनमे सासारिक–जीवन की विधि पर कथाओ द्वारा प्रकाश न डाला गया हो। सरिसया वया सरीस तया आदि पाठ इसी वात के द्योतक हें कि विवाह समान युवावस्था मे ही होता था।

देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत

मातृवत्परदाराश्च, परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्वभूतानि, य पश्यति स पश्यति।।

जो मनुष्य पराई स्त्री को माता के समान जानता है, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान मानता है और सब प्राणियो को अपने ही समान देखता है वही यथार्थ देखने वाला है।

विवाहित जीवन मे ब्रह्मचर्य

ऊपर यह तो कहा जा चुका है कि जो पुरुष या स्त्री पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने मे समर्थ हैं उन्हे विवाह न करना चाहिए और जो ऐसा करने मे असमर्थ है उनके लिए विवाह करना अनुचित भी नही माना जाता। अब देखना यह है कि विवाह करके भी ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है या नही ? ओर किया जा सकता है तो किस रूप मे ?

पत्येक बात का ऊँचे से ऊँचा और नीचे से नीचा आदर्श रहता ही है। मनुष्यमात्र से एक ही आदर्श की ओर चलने की आशा करना उचित नही है क्योकि सब लोगो मे समान बुद्धि शक्ति साहस, धैर्य आदि नही होते। इस बात को दृष्टि मे रखकर ही जैन-शास्त्रो ने ब्रह्मचर्य का भी ऊँचे से ऊँचा और नीचे से नीचा ऐसे दोनो ही प्रकार के आदर्श बताये है।। ब्रह्मचर्य के सबसे उच्च आदर्श का नाम सर्वविरति ब्रह्मचर्य है और उससे नीचे आदर्श का नाम देशविरति ब्रह्मचर्य है। देशविरति ब्रह्मचर्य अर्थात् आशिक ब्रह्मचर्य।

विवाहित पुरुष-स्त्री भी देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन भलीभाति कर सकते है बल्कि देशविरति ब्रह्मचर्य को स्वीकार करना धार्मिक एव नैतिक-दृष्टि से प्रत्येक पुरुष-स्त्री का कर्तव्य है। देशविरति ब्रह्मचर्य को स्वीकार करने से विवाहित स्त्री-पुरुष के सासारिक कामो मे किसी प्रकार की [illegible]

बाधा नही आती। क्योकि सर्वविरति ब्रह्मचर्य मे मैथुनाङ्गो सहित सब प्रकार के मैथुन का मन, वचन ओर काय से सेवन करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग लिया जाता है। लेकिन देशविरति ब्रह्मचर्य–व्रत का आदर्श इससे बहुत नीचा हे। देशविरति ब्रह्मचर्य–व्रत स्वीकार करने वाला जो प्रतिज्ञा करता है, वह इस प्रकार होती हे –

सदार सतोसिए अवसेस मेहुण पचक्खामि जावज्जीवाए (देव देवी सम्बन्धी) दुविह तिविहेण न करेमि, न कारवेमि मणसा वयसा कायसा, मनुष्य मनुष्यणी एव तिर्यंच तिर्यचणी सम्बन्धी एगविह एगविहेण न करेमि कायसा –

इस प्रतिज्ञा के अनुसार देशविरति ब्रह्मचर्य–व्रत स्वीकार करने वाले पुरुष या स्त्री के लिए सासारिक काम न रुकने योग्य बहुत गुजायश रह जाती है। इसलिए विवाहित पुरुष–स्त्री को देशविरति ब्रह्मचर्य–व्रत स्वीकार करना एव पालन करना चाहिये।

पुरुष और स्त्री के भेद से देशविरति ब्रह्मचर्य–व्रत का नाम स्वदार सतोष व्रत और स्वपति–सन्तोष व्रत है। इन दोनो की अलग–अलग व्याख्या की जाती है।

स्वदार–सतोष

जिस ब्रह्मचर्य–व्रत मे स्वदार का आगार रक्खा जाता है, उसे स्वदार सतोष–व्रत कहते हें। इस व्रत को स्वीकार करने मे उन सभी स्त्रियो से मैथुन करने का त्याग करना पडता है जो स्व की नही हें, जो स्त्री स्व (खुद) की कहलाती हे उसके सिवा अन्य सभी स्त्रियॉ परदार हें। ओर यह व्रत स्वीकार करने मे ऐसी सभी स्त्रियो से मैथुन–सेवन का त्याग किया जाता हे। इस प्रकार गृहस्थ पुरुष जिस देशविरति ब्रह्मचर्य–व्रत को स्वीकार करते हें उसका नाम स्वदार–सतोष–व्रत हे ओर इस व्रत को स्वीकार करने मे परदारा का त्याग किया जाता है।

लाभ

स्वदार सतोष–व्रत का बहुत माहात्म्य हे। शास्त्रकारो का कथन हे, कि इस व्रत का स्वीकार करने वाले पुरुष की कामेच्छा सीमित हो जाती हे। जिससे वह असीम कामेच्छा के पाप से बच जाता हे। परस्त्रीसेवन का त्याग करने वाले पुरुष का चित्त परस्त्री की ओर जाता ही नही जिससे उसके द्वारा परस्त्री–सवन का पाप नही होता। दुराचारी की अपेक्षा उसका शरीर बलवान

मेधावी, स्वस्थ और दीर्घायुषी होता है और सन्तान भी पैतृक जनो के अनुरूप ही होती है। अन्य ग्रन्थकारो ने भी इस व्रत का बहुत माहात्म्य बताया है। पुराणो के रचयिता व्यासजी कहते हैं –

स्वदारे यस्य सन्तोष परदार निवर्तनम्।
अपवादोऽपि नो यस्य, तस्य तीर्थफल गृहे।।

–व्यास स्मृति।

'स्वदार मे सन्तोष करने और पराई स्त्री से निवर्त्तने वाला पुरुष निन्दा से बच जाता है उसका किसी पकार अपवाद नही होता तथा घर मे ही उसे तीर्थ का फल मिल जाता है।'

स्वदार–सन्तोष–व्रत स्वीकार करने से दाम्पत्य–प्रेम मे भी वृद्धि होती है पति–पत्नी मे कलह नही होता, लोक मे निन्दा नही होती, किन्तु विश्वासपात्र माना जाता है। धन, वैभव बल, बुद्धि, यश, कीर्ति, निर्भयता और सद्गुण सुरक्षित रहते हैं। परलोक मे भी वह उन दु खो से बचा रहता है, जो परदार–गामी को प्राप्त होते हैं। जैन सिद्धान्त कहते हैं ऐसा पुरुष राज्यभण्डार मे अन्त पुर मे साहूकार के भण्डार मे और अन्यत्र कही जावे तो भी उसकी अप्रतीति नही होती।

परदार–गमन

स्वदार–सन्तोष व्रत रहित यानि परदार–गामी पुरुष दुराचारी कहलाता है और वह अपनी स्त्री को भी सन्तुष्ट रखने मे असमर्थ रहता है। ऐसे पुरुष का विश्वास न स्वस्त्री ही करती है, न परस्त्री ही। स्व–पत्नी से सदा कलह बना रहता है। घर दु खमय हो जाता है। सन्तान या तो होती ही नही और होती भी है तो रुग्ण अल्पायुषी और दुराचारिणी। क्योकि माता–पिता के सद्गुण–दुर्गुण का प्रभाव सन्तान पर पडता ही है।

परदार–गामी पुरुष की लोक मे अत्यन्त निदा होती है। कोई उसका विश्वास नही करता। अन्य लोग तो क्या उसकी अपनी स्त्री भी उसे घृणा की दृष्टि से देखती है। उसका जीवन कलकित, दूषित एव पापपूर्ण रहता है। परस्त्री की इच्छा रखने वाले पुरुष की सचित कीर्ति भी नष्ट हो जाती है। यश उसके पास भी नही फटकता। धन–वेभव उसे त्याग देते हैं। बल, सौन्दर्य साहस और धैर्य का उसमे अभाव–सा हो जाता है। वह दुर्गुणो और पापो का घर बन जाता हे। उसमे से सद्गुण निकल जाते हैं। भय [illegible] रोग शोक अपमान दीनता आदि समस्त दु ख उसे घेर लेते हे।

गया। यही बात मणिरथ पद्मोत्तर आदि के लिए भी है। इनमे भी यदि सदाचार का अभाव न होता तो इनके नष्ट होने का भी कोई ऐसा निन्द्य कारण न था। बौद्ध-ग्रन्थ धम्मपद मे लिखा है कि जो अविचारी, पर-स्त्री की अभिलाषा करता है उसे चार फल मिलते है-(1) अपयश, (2) निदानाशक चिन्ता, (3) दण्ड और (4) नरक। इस पकार अन्य ग्रन्थो ने भी परदार-गमन की निन्दा ही की है।

परनारी पैनी छुरी, तीन ठौड सु खाय
धन छीजे, यौवन हरै, मुए नरक ले जाय।।

परदार-गमन मास और मदिरा के समान ही त्याज्य है

आजकल के पुरुषो मे शायद ऐसे पुरुष तो अधिक निकलेगे जो मास-मदिरा के त्यागी हो लेकिन परदार-त्यागी पुरुष सम्भवत बहुत कम निकलेगे। मास-मदिरा के त्यागी और परदार-भोगी पुरुष सम्भवत परदार को मास-मदिरा की अपेक्षा ग्राह्य समझते है लेकिन वास्तव मे मास-मदिरा की अपेक्षा परदार ग्राह्य नही है किन्तु मास-मदिरा के समान त्याज्य है। मास-मदिरा की ही तरह परदार-सेवन भी बुद्धि, धन, सौन्दर्य, दया, सहानुभूति और धर्म का नाशक एव हिसादि पापो मे प्रवृत्त करने वाला है। ऐसा होते हुए भी बहुत से लोग इस पाप से मास-मदिरा के पाप की तरह नही बचते।

उपासक दशाग-सूत्र के 8 वे अध्ययन मे महाशतक श्रावक का वर्णन आया है। महाशतक की स्त्री रेवती मास-भक्षिणी थी, किन्तु महाशतक पर ही अनुरक्त थी। इस कारण महाशतक ने यह विचारा होगा कि यदि मैं इसे त्याग दूँगा तो सम्भव हे कि यह व्यभिचार का भयकर पाप करने मे प्रवृत्त हो जाय लगता है कि इसी विचार से महाशतक श्रावक ने मास-भक्षिणी रेवती का त्याग नही किया हो। इससे यह सिद्ध हुआ कि महाशतक की दृष्टि मे व्यभिचार आदि मास-भक्षण से अधिक नही तो उसके समान ही पाप था।

पत्नी को सदाचारिणी रखने के लिये स्वय सदाचारी बनो

बहुत से पुरुष अपनी स्त्री से तो पतिव्रत पालन करवाना चाहते हैं, उसे पर-पुरुष-गामिनी नही देखना चाहते लेकिन अपने आपको परदार-गमन के लिए स्वतन्त्र समझते है। ऐसे लोग जान-बूझ कर बबूल बोते है ओर आम [illegible] की इच्छा रखते है। किसी नियम का पालन दूसरे से तभी कराया जा सकता है जब स्वय भी उसका पालन करे। जब तक स्वय द्वारा किसी नियम [illegible] लन न किया जाय तब तक दूसरे से उस नियम का पालन कराने मे

सफलता नहीं मिल सकती। यह बात दूसरी है कि परदारगामी पुरुष की स्त्री अपना धर्म विचार कर स्वय ही सदाचारिणी रहे, लेकिन पदरारगामी पुरुष को सैद्धान्तिक–रूप मे यह अधिकार नही रहता हे कि वह अपनी स्त्री को सदाचारिणी रहने के लिए बाध्य कर सके। यह अधिकार उसे तभी हो सकता है, जब वह भी सदाचार का पालन करता हो। बल्कि स्त्रियो को पर–पुरुष–गामिनी बनाने वाले परदार–गामी पुरुष ही हें। ज्यादातर स्त्री स्वय ही पर–पुरुष–गामिनी नही होती, किन्तु परदार–गामी–पुरुष ही अपने लिए किसी स्त्री को पर–पुरुष–गामिनी बनाता है। अत अपनी स्त्री को पतिव्रता, सदाचारिणी और पति–परायण रखने के लिए भी स्वदार–सन्तोष–व्रत स्वीकार करके पालन करना चाहिये।

स्व–स्त्री सेवन की मर्यादा

यद्यपि इस व्रत मे स्व–स्त्री का आगार रहता है, लेकिन इसका यह अर्थ नही हो सकता कि स्व–स्त्री से भी मैथुन करने मे स्वछन्दता से काम लिया जावे। क्योकि इस व्रत का नाम स्वदार–सन्तोष है स्वदार–रमण नाम नही है। यदि स्वदार–रमण नाम होता तब तो स्व–स्त्री के सेवन मे स्वच्छन्दता को स्थान हो सकता था, लेकिन स्वदार–सन्तोष नाम मे स्वच्छन्दता को स्थान ही नही रहता। इसलिए आगार होने पर भी स्वदार–सेवन मे नीतिकारो की बताई हुई मर्यादा का पालन करना आवश्यक है। नीतिकारो का कथन है –

सन्तानार्थञ्च मैथुनम्।

'मैथुन का विधान सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही है।'

वैद्यक मतानुसार रजोदर्शन से पूर्व स्त्री–पुरुष का ससर्ग सन्तानोत्पत्ति के लिए निरर्थक है ओर ऋतु–स्नान के सिवा अन्य समय मे किये गये मैथुन से वीर्य वृथा जाता हे। इसलिये ग्रन्थकारो ने कहा है – रजोदर्शन से पहले स्त्री–ससर्ग न करे। इस प्रकार ऋतु–स्नान से पूर्व स्त्री–सेवन का भी निषेध किया गया हे। ऋतु–स्नान से पूर्व स्त्री–सेवन द्वारा वीर्य को वृथा नाश करने वाले के लिए ग्रन्थकार कहते हें –

व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्।

–निर्णयसिन्धु।

वीर्य को वृथा खोने से ब्रह्महत्या का पाप होता हे।

इस प्रकार स्वच्छन्दता से अपनी स्त्री का सेवन करने का भी निषध किया गया हे। वेद्यक मतानुसार स्व–स्त्री क साथ भी अति मेथुन करने स शारीरिक–शक्ति क्षीण हाती हे वीर्य पतला पडता हे सन्तान दुर्वल,

अल्पायुषी और दुर्गुणी होती है। अति मैथुन करने वाला अच्छे कार्य नही कर सकता। ऐसा पुरुष यदि कभी अपनी स्त्री से अलग रहे, तो उसमे व्यभिचार-दोष का आ जाना बहुत सम्भव है। क्योकि वह अपनी मैथुनेच्छा को रोकने मे असमर्थ हो जाता है, इसलिए दुराचार मे पडना आश्चर्य की बात नही। अति मैथुन से ऑखो की ज्योति क्षीण हो जाती है, दॉत गिर जाते हैं और शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है। अति मैथुन के कारण क्षय, प्रमेह, स्वप्नदोष, नपुसकता आदि रोग उत्पन्न होते है और आयुर्बल कम होता है। वैद्यक ग्रन्थो मे कहा है –

अतिस्त्री–सम्प्रयोगाद् रक्षेदात्मानमात्मवान्।
क्रीडायामपि मेधावी हितार्थी परिवर्जयेत्।।1।।
शूल–कास–ज्वर–श्वासकार्श्य–पाड्वामयक्षया ।
अतिव्यवाया ज्जायन्ते रोगाश्चाक्षेपकादय ।।2।।

अति स्त्री–प्रसग से अपने को बचाये रहना, सावधान रहना मनुष्य को उचित है। अपना भला चाहने वाले बुद्धिमान् पुरुषो के लिए क्रीडा मे भी अति प्रसग वर्ज्य है। अति मैथुन से शूल, खासी, ज्वर, श्वास, दुर्बलता, पीलिया क्षय आदि व्याधिया उत्पन्न होती हैं।'

तात्पर्य यह है कि अपनी स्त्री से भी अति मैथुन वर्ज्य है। अति मैथुन के साथ ही नीतिकारो ने असमय के मैथुन का भी निषेध किया है। दिन का समय रात का पहला और अन्तिम पहर तथा स्त्री गर्भवती हो वह समय मैथुन के लिए निषिद्ध है। दिन मे तथा रात के पहिले और अन्तिम पहर मे स्वस्त्री से किया गया मैथुन भी शरीर सम्बन्धी वे ही हानिया करने वाला होता है, जो हानिया परस्त्री–गमन से होती है। इसी प्रकार गर्भवती स्त्री से मैथुन करने से गर्भ के बालक पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। कभी–कभी तो माता–पिता की इस कुचेष्टा से गर्भ मे ही बालक की मृत्यु हो जाती है। यदि बालक जन्मा भी तो वह बचपन से ही अब्रह्मचर्य की कुचेष्टाये करने लगता है और अन्त मे दुःखदायक परिणाम को प्राप्त होता है। गर्भवती स्त्री से मैथुन करने पर वह स्त्री भी रोग–ग्रस्त हो जाती है तथा प्रसूति रोगादि से मर भी जाती है। गर्भवती से मैथुन करने के कार्य को यदि मनुष्य–हत्या के समान पाप कहा जाए तब भी कोई अतिशयोक्ति न होगी।

गर्भवती स्व–स्त्री के समान उस स्वस्त्री से भी मैथुन करना वर्ज्य है जिसका बालक छोटा हो। छोटे बालक की मा के साथ ऋतुकाल मे मैथुन

करना भी, वेद्यक और नीति के अनुसार हानिप्रद हे। ऐसी स्त्री के साथ मैथुन करने से और उस स्त्री के गर्भवती हो जाने से उस छोटे बालक का विकास रुक जाता है ओर गर्भ का बालक भी कमजोर, रुग्ण एव अल्पायुषी होता हे। इसलिए छोटे बच्चे वाली स्व–स्त्री से भी मैथुन करना त्याज्य है।

इस समय के स्वदार–सन्तोषी

वर्तमान समय के परदार–त्यागी और स्वदार–सन्तोषी पुरुषो मे सम्भवत ऐसे पुरुष तो गिनती के ही निकलेगे, जो स्व–स्त्री सेवन मे नीतिकारो की बताई हुई मर्यादाओ का पालन करते हो। लोगो के मुह से एक–दो या चार–छ दिनो के लिए मैथुन का त्याग कराने की बात सुनकर समाज की पतनावस्था पर दया आती है। उनके इस त्याग लेने की बात से यह स्पष्ट हे कि ऐसा कोई ही दिन मुश्किल से जाता होगा जिस दिन वे मेथुन से बचे रहते हो। यद्यपि नीतिकारो ने ऋतुकाल के सिवा अन्य समय मे स्त्री–गमन का निषेध किया है ओर इस बात का समर्थन वैद्यक–ग्रन्थ भी करते हैं तथा पाकृत्तिक रचना पर दृष्टिपात करने से भी यही प्रकट होता है, फिर भी लोग इस मर्यादा की अवहलना करते हैं। ऐसे लोगो को मनुष्य कहने का कारण केवल उनकी शारीरिक रचना के सिवा और कुछ नहीं रहता। क्योंकि जिन नियमो का पालन बुद्धिहीन पशु भी करते हें, उन नियमो का पालन यदि बुद्धि–सम्पन्न मनुष्य न करे, तो फिर उसमे पशुओ की अपेक्षा शारीरिक रचना के सिवा कोनसी विशेषता रही? पशु भी प्राय ऋतुकाल के सिवा अन्य समय मे मेथुन नही करता। यदि मनुष्य होकर भी इस नियम की अवहेलना करता हे तो इससे अधिक पतन की बात ओर क्या होगी? स्वदार–सन्तोष–व्रत का पूर्णतया पालन तभी समझना चाहिये, जब परस्त्री को त्यागने के साथ ही स्व–स्त्री के सेवन मे भी अनियमितता न की जावे, यानी सन्तोष से काम लिया जावे।

एक पत्नी–व्रत

स्वदार–सन्तोष–व्रत की विशेषता तब हे जब मोजूदा पत्नी के सिवाय अन्य का त्याग कर दिया जाय। जेसा कि आनन्द श्रावक ने अपनी शिवानन्दा स्त्री का ही आगार रखा था। व्रत धारण करने के पश्चात् ओर विवाह करन की इच्छा न रखी जाव। पुरुपा ने अपने प्रभुत्व से वहुविवाह या

एक स्त्री के मरने पर दूसरा विवाह करने का अधिकार बढा लिया है ओर वर्तमान समय मे एक पत्नी के मरने के बाद दूसरी पत्नी करने यानि दूसरा-तीसरा विवाह करने की पथा चल पडी है। इससे ऐसा करना कठिन जान पडता है अन्यथा पाकृतिक रचना पर ध्यान देने एव न्याय-दृष्टि से विचारने पर यह बात स्पष्ट है कि इस विषय मे पुरुष को, स्त्री से अधिक अधिकार नही है। चरितानुवाद के सूत्रो मे ऐसा कोई उदाहरण नही दिखाई पडता, जहॉ भावक की विद्यमान पत्नी मरने पर या विद्यमान कायम रहते हुए भी सकारण दूसरा विवाह किया हो अर्थात् जिस प्रकार स्त्रिया एक-पतिव्रत का पालन करती है, उसी पकार पुरुषो को भी एक-पत्नी-व्रत का पालन करना उचित है ओर जिस पकार विधवा होने पर भी स्त्रिया, दूसरे पुरुष के साथ विवाह नही करती, उसी प्रकार पुरुष को भी विधुर होने पर दूसरी स्त्री के साथ विवाह करना उचित नही ठहरता किन्तु विधवाओ की तरह विधुर को भी ब्रह्मचर्य पालना चाहिये।

स्वपतिसन्तोष

कोकिलाना स्वरो रूप नारीरूप पतिव्रतम्।

चाणक्य नीति।

कोयल का रूप उसका स्वर है और स्त्री का रूप उसका पतिव्रत है।

सर्वविरतिब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने मे असमर्थ ऐसी विवाह करने वाली स्त्रियो को विवाह करने के पश्चात भी स्वपति-सन्तोष-व्रत स्वीकार एव पालन करना चाहिए। स्वपति-सन्तोष-व्रत स्वीकार करने वाली स्त्रिया, देशविरति ब्रह्मचारिणी कहलाती हे और व्यवहार तथा अन्य ग्रन्थकारो की दृष्टि मे ऐसी स्त्रिया ब्रह्मचारिणी सतिया भी कहलाती हैं। जेसे –

या नारी पतिभक्ता स्यात्सा सदा ब्रह्मचारिणी।

सूक्ति।

जो स्त्री पतिभक्ता है-दूसरे पुरुष से अनुराग नही रखती वह सदा [illegible]रिणी कहलाती हे।

स्वपति-सन्तोषव्रत स्वीकार एव पालन करने से स्त्रियो को वे ही [illegible] होते है [illegible] लाभ पुरुषो को स्वदार-सन्तोष-व्रत से होते है। ससारावस्था [illegible] लिए स्वपति-सन्तोष-व्रत के समान ओर कोई कार्य, इस लोक [illegible]

तथा परलोक मे हितसाधक नही है। दूसरे कार्य किसी एक ही लोक का हित साधने मे समर्थ हो सकते हें, लेकिन स्वपति–सन्तोष–व्रत से दोनो ही लोक सुधरते हैं। अन्य ग्रन्थकार भी कहते हैं –

पति या नाभिचरति मनो वाग्देह सयता।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्‌भि साध्वीति चोच्यते।।

मनुस्मृति।

'जो स्त्री, मन, वाणी तथा शरीर से व्यभिचार नही करती हे, पर–पुरुष को नही चाहती हे, वह इस लोक मे सती–साध्वी कही जाती है, और मरने पर स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त होती है।'

व्यभिचार–निन्दा

स्वपति–सन्तोषव्रत स्वीकार करने वाली स्त्री के लिए इस लोक तथा परलोक मे कुछ भी दुर्लभ नही है। पतिव्रता–स्त्री की सेवा–सहायता के लिए देवता भी तत्पर रहा करते हैं। शास्त्रो मे सीता, द्रौपदी और सुभद्रा आदि सतियो का वर्णन उनके सतीत्व के कारण ही आया है एव अग्नि का शीतल होना भी उनके पतिव्रत का ही प्रभाव है। इसके विपरीत जो स्त्रिया व्यभिचारिणी हैं, उनके लिए इस लोक और परलोक मे वे ही हानिया हें जो व्यभिचारी पुरुष के लिए बताई गई हैं। अन्य ग्रन्थकारो ने भी कहा है –

व्यभिचारात् तु भर्तु स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनि चाप्नोति, पापरोगैश्च पीड्यते।।

मनुस्मृति।

स्वपति–सतोषव्रत पालन करने के लिए स्त्रियो को भी उन नियमो का पालन करना आवश्यक हे, जो नियम स्वदार–सतोषव्रत लेने वाले पुरुषो के लिए बताये गये हें। बल्कि धर्म–सहायिका होने के कारण स्त्रियो पर अपने पति को पत्नीव्रत पर स्थिर रखने एव नियमो का पालन कराने की जिम्मेदारी ओर आ पडती हे। स्वपति–सतोष–व्रत की आराधिका स्त्री ऐसे कोई कार्य नही करती जिनके करने से उसके या उसके पति के व्रत मे दोष लगता हा या व्रत से सवन्ध रखने वाले नियम भग होते हो।

व्रत–रक्षा के उपाय

देशविरति–ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उन नियमो का आदर्श मान कर यथासम्भव उनका अनुसरण करना उचित हे जो नियम सर्वविरति–ब्रह्मचर्य

की रक्षा के लिए बताये गये हे। यह बात दूसरी है कि देशविरति- ब्रह्मचर्य स्वीकार करने वाले लोग गृहस्थ होते हे इसलिए समुचित रूप मे उन नियमो का पालन न कर सके लेकिन आशिक रूप मे तो अवश्य पालन कर सकते है। उदाहरण के लिए सर्वविरति ब्रह्मचारी की तरह देशविरति ब्रह्मचारी उस मकान मे जिसमे स्त्री पशु रहते हो न रहन का नियम नही पाल सकता लेकिन स्त्री–पुरुष अलग–अलग कमरो मे रहने या एक शय्या पर शयन न करने के नियम का पालन कर सकते हैं। इसी प्रकार देशविरति ब्रह्मचारी यदि स्त्री–मात्र को न देखने उनसे बातचीत हसी–मजाक आदि न करने का नियम नही पाल सकता तो पर–स्त्री के लिए तो इस नियम को पाल ही सकता हे। साराश यह कि देशविरति ब्रह्मचारी को सर्वथा नही तो आशिक रूप मे जितना भी पाल सके उन नियमो का पालन करना उचित हे, जो नियम सर्वविरति ब्रह्मचारी एव ब्रह्मचारिणी के लिए बताये गये हे।

ब्रह्मचर्य–व्रत के अतिचार

व्याख्या

शास्त्र मे प्रत्येक व्रत की चार मर्यादाए बतलाई गई हे, अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार ओर अनाचार। व्रत का उल्लघन करने का सकल्प करना अतिक्रम है। इस सकल्प को पूरा करने के लिए सामग्री जुटाना व्यतिक्रम हे। व्रत को उल्लघन करने के सकल्प को कार्यरूप मे परिणत करन के लिए तेयार हो जाना अतिचार है ओर व्रत का उल्लघन करने के सकल्प को पूरा कर डालना यानि व्रत को भग कर देना अनाचार हे।

यद्यपि व्रत मे दूषण तो अतिक्रम ओर व्यतिक्रम से भी लगता हे लेकिन मानव–स्वभाव को दृष्टि मे रखकर व्यवहार मे अतिक्रम ओर व्यतिक्रम से व्रत दूषित नही माना जाता किन्तु अतिचार से व्रत दूषित माना जाता हे ओर अनाचार से तो व्रत नष्ट ही हो जाता हे। इसलिए प्रत्येक व्रत के अतिचारा को जानकर उनस बचना आवश्यक हे।

देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत के भगवान महावीर ने पाच अतिचार बताय हें, जो इस प्रकार हे –

सदार सतोसिए पच अइयारा जाणियव्वा न सगायरियव्वा, तजहा–इत्तरिय परिग्गहिया गमणे, अपरिग्गहिया गमणे अनगकीडा, परविवाह करणे, कामभोग तिव्वाभि लासे।

स्वदार–सन्ताप व्रत के पाच अतिचार जानन याग्य हे लकिन आचरण करन योग्य नही हे। वे अतिचार य हे – इतर परिगृहीता गमन अपरिगृहीता गमन अनग क्रीडा पर–विवाह- करण कामभाग म तीव्र अभिलाषा।

पहिला अतिचार

देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत का पहला अतिचार इतर परिगृहीता गमन हे। बहुत लाग स्वदार सन्ताप व्रत लकर भी यह गुजाइश निकालन लगत हे कि

हमने स्वदार का आगार रखा है अत यदि किसी स्त्री को कुछ समय के लिये रुपये–पैसे देकर या बिना दिये ही–अपनी बना ली जावे और उसके साथ स्वदार का–सा व्यवहार किया जावे तो इससे स्वदार सन्तोष–व्रत मे कोई दूषण नही आता। यद्यपि स्वदार–सन्तोष व्रत मे केवल स्वदार–यानी जिसके साथ देश और समाज–पचलित रीति से विवाह हुआ है, उसी का आगार रहता है फिर भी कई लोग उक्त पकार की गुजाइश निकालने लगते हैं। लेकिन इस पकार की दलील देकर गली–गुजाइश निकाल कर जो अपनी नही है, उस स्त्री को थोडे समय के लिए अपनी बनाकर उसके साथ मैथुन करने के लिए तैयार हो जाना अतिचार है। ऐसा करना जब तक अतिचार के रूप मे है तब तक तो व्रत मे दूषण ही लगता है व्रत नष्ट नही होता लेकिन इस प्रकार का कार्य अनाचार के रूप मे होने पर यानी मैथुन किया रूप मे होने पर व्रत नष्ट हो जाता है। इस अतिचार का दूसरा अर्थ यह भी है कि अपनी स्त्री भी जो अल्पवयस्का है भोग–योग्य नही है ऐसी स्त्री से सम्भोग करना अनाचार तो नही किन्तु अतिचार अवश्य है। कारण ऐसा कार्य बलात किया जाता है बाल–विवाह से ऐसा होता है।

दूसरा अतिचार

दूसरा अतिचार अपरिगृहीता गमन है। परदार से निवर्त्तन वाले बहुत से लोग परदार–त्याग का यह अर्थ लगाते है कि जो स्त्री दूसरे की है जिसका स्वामी कोई दूसरा पुरुष है उस स्त्री से मैथुन करने का हमने त्याग

होते ही अनाचार होने पर लिया हुआ व्रत नष्ट हो जाता हैं। इस अतिचार का दूसरा अर्थ यह हे कि जिरा कन्या के साथ राम्बन्ध तो हा गया हे, परन्तु पच–साक्षी या सामाजिक रीति–रिवाज रो विवाह नही हुआ हे ऐसी स्त्री (कन्या) से सम्भोग करना अतिचार है, क्योकि अपनी होते हुए भी वह अपरिगृहीता हे।

वेश्या–गमन से हानि

कई लोग कहते हें, कि वेश्या ता किसी की स्त्री नही है, इस कारण वेश्या–सम्भोग से व्रत नष्ट नही होता। ऐसा कहने ओर समझने वाले लोग लिए हुए व्रत और त्याग के रहस्य से ही अनभिज्ञ हैं। स्वदार–सन्ताप–व्रत ओर परदार–विरमणकृत स्त्री–भोग की लालसा को सीमित करने, शने–शने उसे कम करने के लिए है। लेकिन वेश्या–सम्भोग पर–स्त्री सम्भाग से भी अधिक हानिप्रद है। वेश्या–सम्भोग से दुर्विषय–लालसा मे ऐसी भयकर वृद्धि होती है कि जिसका वर्णन करना शक्ति से परे की वात हे। वेश्या–गामी पुरुष–दुर्विषयी होने के कारण वेश्या के पीछे अपना सव–कुछ खा वेठता हे। वश्या के पीछे वडे–बडे धनिको को–अपना धन- वेभव खोकर भीख मागनी पडी है। वडे–वडे परिवार वाले वेश्या के चक्र मे फस जाने के कारण नि सहाय बन जाते हैं, बडे–वडे बलवान वेश्या–सग स वलहीन हा जाते हे। इतना होने पर भी जिस वेश्या के पीछे यह सब कुछ होता हे वह वेश्या किसी भी पुरुष की नही होती। वेश्यागामी पुरुष इस लोक मे निन्दित ओर परलाक मे दण्डित होता हे अर्थात् दुर्गति को प्राप्त होता हे। वडे अनुभव के पश्चात भर्तृहरि कहते हें –

वेश्याऽसौ मदनज्वाला रूपेन्धन समेधिता।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च।।

'वेश्या कामाग्नि की ज्वाला हाती हे जो रूप–ईन्धन से सजी रहती हे कामी लोग इस रूप–ईन्धन से सजी हुई वेश्या नामक कामाग्नि की ज्वाला मे अपने यौवन ओर धन की आहुति दत हें।

तात्पर्य यह कि वश्या–गमन भयकर पाप हे। वश्यागामी–पुरुष का अन्त करण इतना कामुक एव कलुपित हो जाता ह कि वह अपन कुटुम्ब की स्त्रियो पर कुदृष्टि डालन म तथा मनुष्य–हत्या एव आत्म–हत्या करन मे भी नही हिचकिचाता।

तीसरा अतिचार

तीसरा अतिचार अनंगक्रीड़ा है। काम सेवन के लिए प्राकृतिक जो अंग है उनके सिवा शेष सब अंग काम-सेवन के लिए अनंग हैं। जो अंग काम सेवन के लिए अनंग हैं उनसे काम क्रीड़ा करना अनंग क्रीड़ा कहलाती है। जैसे गुदा मैथुन हस्त-मैथुन मुख मैथुन कर्ण मैथुन कुचमर्दन चुम्बन आदि। इन सब मैथुनों की विशेष व्याख्या न करके इतना ही कहा जाता है कि स्व स्त्री से भी ऐसा मैथुन करने से व्रत में दूषण लगता है। इसलिये व्रतधारी को इस अतिचार से बचना चाहिये।

चौथा अतिचार

चौथा अतिचार पर-विवाह-करण है। आनन्द श्रावक की तरह अपनी स्त्री का नाम लेकर स्वदार-सन्तोष-व्रत स्वीकार करने वाला केवल अपनी उसी स्त्री पर सन्तोष करने की प्रतिज्ञा करता है जो प्रतिज्ञा करने के समय मौजूद है और जिसके साथ देश और समाज में प्रचलित रीति से विवाह हो चुका है। ऐसा होने पर भी कई लोग यह गुंजाइश निकालने लगते हैं कि हमने स्व स्त्री सन्तोष व्रत लिया है। इसलिए यदि किसी अविवाहित स्त्री से विवाह करके उसे अपनी स्त्री बना लें तो कोई हर्ज नहीं है। ऐसा करने से हमारे व्रत में दूषण न लगेगा। वास्तव में ऐसा करना प्रतिज्ञा विरुद्ध है। जब तक यह कार्य अतिचार की सीमा तक है तब तक तो व्रत में दूषण ही लगता है लेकिन अनाचार के रूप में होने पर व्रत नष्ट हो जाता है। यह बात दूसरी है कि कोई अपनी इच्छा प्रकार व्रत ले लेकिन आनन्द की तरह स्वदार सन्तोष व्रत लेने पर पुनः विवाह करने का अधिकार नहीं रहता। इस व्याख्या के विषय में आचार्य हरिभद्र सूरिजी कृत धर्मबिन्दु प्रमाण है।

इस अतिचार का एक अर्थ दूसरे का विवाह करना कराना भी है। [illegible] धर्म या पुण्य समझ कर दूसरे लोगों का विवाह [illegible] [illegible] व्रतधारी के लिए ऐसा करना [illegible] [illegible] होता है।

पांचवां अतिचार

लोग काम-भोग की अभिलाषा को तीव्र करने की चेष्टा करते हैं, यानि बाजीकरण आदि ओषधियो का सेवन करते हैं, या कामोद्दीपन की चेष्टा करते है और समझते है कि इससे हमारे व्रत को कोई हानि नही पहुँचती। लेकिन ऐसा करने से स्वदार के सेवन मे सन्तोष नहीं रहता किन्तु असन्तोष बढ जाता है। इसलिए व्रतधारी को काम-भोग की अभिलाषा तीव्र करने का उपाय न करना चाहिए। ऐसा न करने से व्रत मे अतिचार लगता हे और व्रत दूषित हो जाता है।

इन अतिचारो को जान कर इनसे बचना देशविरति-ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है।

उपसंहार

पूर्ण ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल शारीरिक सयम ही नही हे किन्तु सभी इन्द्रियो पर पूर्ण अधिकार ओर मन वचन काय द्वारा कामभाव से सर्वथा मुक्ति हे। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन असम्भव या अस्वाभाविक नही हे, किन्तु सम्भव ओर स्वाभाविक है। यद्यपि पूर्ण ब्रह्मचर्य का सर्वाश मे पालन तो गृह–त्यागी साधु ही कर सकते हे लेकिन आशिक–रूप मे गृहस्थ भी पालन कर सकता हे ओर शारीरिक विकास के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक भी है। इसके लिए सकल्प की दृढता आवश्यक अवश्य हे। जिसमे दृढता नही है जो इन्द्रियो के किंचित् प्रकोप के सामने ही झुक जाता है, वह ब्रह्मचर्य का पालन नही कर सकता। क्योकि इन्द्रियो के सामने थोडा भी झुक जाने पर इन्द्रियो का बल बढता जाता हे वे अपना आधिपत्य जमाती जाती है और फिर ब्रह्मचर्य से ही दूर नही हटाती किन्तु दुराचार के गड्ढे मे ही डाल देती है।

जिस प्रकार ब्रह्मचर्य स्वाभाविक हे उसी प्रकार दुर्विषय–भोग अस्वाभाविक भी हे जिसकी इच्छा होना प्राय बुरे तोर पर किये गये लालन–पालन का फल हे। गाधी जी के शब्दो मे माताएँ ओर दूसरे सम्बन्धी अबाध बच्चा को यह सिखलाना धार्मिक–कर्त्तव्य–सा मान बेठते हे कि इतनी उम्र हाने पर तुम्हारा विवाह होगा। बच्चे के भोजन ओर कपडे भी बच्चे को उत्तेजित करत हे। बच्चो को सेकडो तरह की गर्म ओर उत्तेजक चीज खाने को देते हे अपन अध–प्रेम मे उनकी शक्ति की कोई परवाह नही करते। इस प्रकार माता–पिता स्वय विकारो के सागर मे डूब कर अपन लडको के लिए ब–लगाम स्वच्छन्दता क आदर्श बन जाते हे।" गाधीजी का यह कथन अधिकाश म ठीक ह ओर इस प्रकार का पालन–पाषण ही विषयच्छा उत्पन्न करन का कारण ह।

दुर्विषय–भाग उसी प्रकार अस्वाभाविक ओर ब्रह्मचर्य उसी प्रकार स्वाभाविक हे, जिस प्रकार असत्य अस्वाभाविक ओर सत्य स्वाभाविक हे। यदि किसी बालक क सामने असत्य का वातावरण न आने दिया जावे, तो वह बालक असत्य' किसे कहते हैं, यह भी न जानेगा, न असत्य का उपयोग ही करेगा। ठीक इसी प्रकार यदि किसी बालक के सामने दुर्विषय–भोग सम्बन्धी कोई बात न की जावे काम–भोग का कोई आचरण न किया जावे तो सम्भवत उसमे उस प्रकार की दुर्विषयेच्छा उत्पन्न ही न होगी, जेसी कि इससे विपरीतावस्था मे उत्पन्न हो सकती हे। बच्चो के सामने किसी कुकृत्य को यह समझ कर करना कि ये बच्चे क्या जाने? ऐसा सोचना भूल हे। बच्चो पर प्रत्येक अच्छी या बुरी बात का स्थायी प्रभाव पडता हे। इनके हृदय रूपी कारे चित्रपट पर प्रत्येक बात इस प्रकार अकित हा जाती हे, जो मिटाने से मिट नही सकती। वास्तव मे यह समझना ही भूल हे कि हमारे किसी कार्य को दूसरा नही देखता या हमारे कार्य का अच्छा–बुरा प्रभाव दूसरे पर नही पड सकता। गुप्त से गुप्त कार्य ओर विचारो का प्रभाव भी इतना गहरा ओर इतनी दूर तक पडता हे कि जिसका अनुमान लगाना भी कठिन हे।

यद्यपि पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श तक सभी लोग नही पहुँच सकते लेकिन प्रत्येक व्यक्ति के सामने इस आदर्श का होना आवश्यक हे। जिसकी मानसिक ऑखो के सामने यह आदर्श नही हे वह पतित से भी पतित हो जाता है। वह दुर्विषय वासना की लगाम को काबू मे नही रखता, किन्तु उसका गुलाम हो जाता हे।

पूर्ण ब्रह्मचर्य से नीचा आदर्श एक पत्नीव्रत और एक पति–व्रत हे। जो लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श की ओर सहसा गति करने मे अपने आपको असमर्थ देखते हें–मार्ग मे पतित होने का भय है – उनके लिए यह दूसरा नीचे से नीचा आदर्श हे। यह आदर्श कमजोर लोगो के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य तक पहुँचने के मार्ग मे – एक विश्रान्ति स्थल हे। इससे नीचा कोई आदर्श नही हे न इससे नीची अवस्था वाला ब्रह्मचर्य के मार्ग का पथिक ही माना जा सकता हे।

विवाह दुर्विषयेच्छा मिटाने की दवा हे न कि दुर्विषयेच्छा की तृप्ति का साधन। दुर्विषयेच्छा की तृप्ति तो कभी हो ही नही सकती। उसकी तृप्ति क लिए जेसे–जेसे उपाय किया जायेगा वह वेसे–वेसे बढती जायगी। दुर्विषयेच्छा–पूर्ति की प्रत्यक चेष्टा दुर्विषयो का अधिकाधिक गुलाम बनाती हे।

परिग्रह–परिमाणव्रत

विषय–प्रवेश

दु ख का मूल कारण तृष्णा हे। चीटी से लगाकर चक्रवर्ती पर्यन्त सभी जीव तृष्णा के पीछे–पीछे दोड लगा रह हें। खेद की बात यह हे कि उस दोड का कहीं अन्त नही हे, कही विराम नही हे तृष्णा की मजिल कभी तय हो नही पाती। उसका तय होना सभव भी नही हे, क्योंकि लक्ष्य स्थिर नही हे। पहले निश्चित किये हुए लक्ष्य पर पहुँचने को हुए कि लक्ष्य बदल कर आगे बढ जाता हे। इस प्रकार ससार मे दोड–धूप मची रहती हे। मनुष्य पहले विवाह करके सुख की आकाक्षा करता है विवाह कर लेना उसका लक्ष्य होता हे। परन्तु विवाह होते ही सन्तान की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती हे। कदाचित सन्तान हो गई तब भी तृष्णा का अन्त कहाँ? वह ओर आगे बढ जाती हे–सतान के विवाह की इच्छा पेदा करती हे। इसके बाद मनुष्य को पोत्र चाहिए प्रपोत्र चाहिए ओर न जाने क्या–क्या चाहिए? इस चाहिए के चगुल मे फॅस कर मनुष्य वेतहाशा भाग–दोड लगा रहा हे। कभी किसी क्षण शाति नही, सन्तोष नही ओर निराकुलता नही। भला इस दोड–धूप मे सुख केसे मिल सकता हे ? यह ससार की व्याकुलता का कारण हे। इसी तृष्णा स दु ख शोक ओर सताप की उत्पत्ति हाती हे।

ज्ञानी जन तृष्णा के पीछे नही दोडते। उन्होने समझ लिया हे कि अगर कोई अपनी परछाई पकड सकता हे ता तृष्णा की पूर्ति भी कर सकता हे। मगर अपनी परछाई के पीछे कोई कितना ही दोडे वह आग–आगे दोडती रहेगी पकड मे नही आवगी। इसी प्रकार तृष्णा की पूर्ति के लिए कोई कितना ही उपाय कर मगर वह पूरी नही हागी। ज्या–ज्या परछाई क पीछ दोडने का प्रयत्न किया जाता हे त्या–त्या वह आग वढती जाती हे। मगर मनुष्य जव उसस विमुख हा जाता ह तव वह लोटकर उसका पीछा करन लगती ह। इस प्रकार परछाई क पीछ दोडकर अपनी शक्ति का नाश करना व्यर्थ ह आर तृष्णा की पूर्ति करन क लिए मुसीबत उठाना भी वृथा ह।

ज्ञानी जन भलीभाति जानते है कि माया का मालिक होना और बात है और गुलाम होना और बात है। माया का गुलाम माया के लिए झूठ बोल सकता है मगर माया का मालिक ऐसा नही करेगा। अगर न्याय-नीति के अनुसार माया रहे तो वह उसे रक्खेगा अगर वह अन्याय के साथ रहना चाहेगी तो उसे निकाल बाहर करेगा। यही बात अन्य सासारिक सुख-सामग्री के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए।

ज्ञानी पुरुषो ने तृष्णातुर और धनलोलुप जनो को चेतावनी देते हुए कहा है -

तुम समझते हो कि हमने तिजोरी मे धन को कैद कर लिया है, पर धन समझता है कि हमने इतने बडे धनी को अपना पहरेदार मुकर्रर कर लिया है।

तुम अपनी कृपणता के कारण धन का व्यय नही कर सकते पर धन तुम्हारे प्राणो का भी व्यय कर सकता है।

तुम धन को चाहे जितना प्रेम करो प्राणो से भी अधिक उसकी रक्षा करो उसके लिये भले ही जान दे दो लेकिन धन अन्त मे तुम्हारा नही रहेगा-नही रहेगा। वह दूसरो का बन जायगा।

तुम धन का त्याग न करोगे तो धन तुम्हारा त्याग कर देगा। यह सत्य इतना स्पष्ट और ध्रुव है कि इसमे लेशमात्र भी सन्देह नही किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे विवेकवान होते हुए भी इतने पामर क्यो बनते जा रहे हो? तुम्ही त्याग की पहल क्यो नही करते? क्यो स्वत्त्व के धागे को तोड कर फेक नही देते? स्वत्त्व को त्याग देने का अर्थ यह नही है कि तुम उसे फेक दो। इसका अर्थ यही है कि उसे सार्वजनिक कामो मे लगाओ।

अगर आप लोग भी अपनी सम्पत्ति से पाप न करके, उसके ट्रस्टी भर बने रहो तो क्या उस सम्पत्ति को कुछ दाग लग जायगा? हाँ उस अवस्था मे अपने भोग-विलास के लिए उसका दुरुपयोग न कर सकोगे। लेकिन बहुत लोगो की तो ट्रस्टी बनने की भावना ही नही होती। क्या श्रावक की जिन्दगी ऐसी होती है कि वह धन के कीचड मे फॅसा रहे? और उससे आत्मा को मलीन बना डाले उसे परोपकार मे न लगावे? क्या श्रावक को धर्म पर विश्वास नही है? बेक पर विश्वास करके उसमे लाखो रुपया जमा करा देने वालो को धर्म रूपी बेक पर क्या विश्वास नही है?

मै आपका धन नही चाहता। मेरे पास जो कुछ था उसका त्याग कर देना मैने अपना सौभाग्य समझा है। उससे मुझे शान्ति और सुख मिला है। ऐसा करके मैने निराकुलता का आनन्द अनुभव किया है। तुम्हे जो त्याग का

उपदेश करता हूँ तो इसीलिए कि तुम सुख–शान्ति का इसी उपाय स लाम कर सकोगे। राम्यक्दृष्टि का लक्ष्य यही हे कि वह अपनी सम्पत्ति परोपकार के लिए समझे ओर आप उरासे अलहदा–अलग–थलग रहता हुआ अपन को उसका ट्रस्टी अनुभव कर।

मित्रो! आप लोगो के पास जो द्रव्य हे उसे अगर परोपकार मे सार्वजनिक हित मे ओर दीन–दुखियो का साता पहुँचाने म न लगाया तो याद रखना, इसका ब्याज चुकाना भी कठिन हो जायगा। ऐस द्रव्य के स्वामी बनकर आप फूले न समाते होंगे कि चलो हमारा द्रव्य बढ गया हे, मगर शास्त्रकार कहते हें ओर अनुभव उसका समर्थन करता हे कि द्रव्य के साथ क्लेश बढा है। जब आप बेंक से ऋण रूप मे रुपया लेते हें तो उसे चुकाने की कितनी चिन्ता रहती हे? उतनी ही चिन्ता पुण्य रूपी बेंक से प्राप्त द्रव्य को चुकाने की क्यो नही करते? समझ रक्खो, यह सम्पत्ति तुम्हारी नहीं हे। इसे परोपकार के लिए अर्पण कर दो। याद रखो कि यह जोखिम दूसरे की मेरे पास धरोहर रूप मे है। अगर इसे अपने पास रख छोडूँगा तो यह तो यही रह जायगी, लेकिन इसका बदला चुकाना मेरे लिए बहुत भारी पड जायगा।

कनक ओर कामिनी की लोलुपता ने ससार को नरक बना डाला है। आजकल मुद्रा–देवी ने अर्थात्–सोने चॉदी ताबे आदि के सिक्को ने कितनी अशाति फेला रक्खी हे। तुम लोग रात–दिन पेसे के लिए दोड–धूप करते रहते हो मगर पैसे का सग्रह करके भी सुख की सॉस नही ले सकते। पैसे के लिए आपस मे लडाई–झगडे होते हैं हजारो मनुष्यो का खून बहाया जाता है। इसका बाहरी कारण कुछ भी बताया जाय पर असली कारण तो द्रव्य के सग्रह की भावना ही हे। इतिहास स्पष्ट वतला रहा है कि जब स मानव–समाज मे सग्रह–परायणता जागी हे तव से ससार की दयनीय दशा आरम्भ हुई हे।

धन व्यावहारिक कार्यो का एक साधन हे। धन से व्यवहारोपयोगी वस्तुऍ प्राप्त की जा सकती हे। पर आज तो लोगो ने इस साधन को साध्य समझ लिया हे ओर वे इसकी प्राप्ति मे सारा जीवन व्यय कर रहे हें। तुम इस वात का विचार करो कि धन तुम्हार लिए हे या तुम धन के लिए हो? कहन का तुम कह दोगे कि हम धन क लिए नही हे धन हमारे लिए हे। पर क्या व्यवहार मे भी यही बात हे?

सर्वप्रथम तुम अपन का रामझा। विचार करा कि तुम कोन हा ? तत्पश्चात इरा बात का साचा कि धन किराक लिए हे ? तुम रक्त मारा या

हड्डी नही हो। यह सब चीजे शरीर है और शरीर के साथ ही भस्म होने वाली हे। अतएव धन रक्त–मास आदि के लिए नही, आत्मा के लिए है। इस बात को भलीभाति समझ कर आत्मा को धन का गुलाम मत बनाओ। जो सत्य को समझ लेगा वह धन का दास नही बनेगा स्वामी बनेगा। वह धन को साध्य नही साधन मात्र समझेगा। वह धन के लिए जीवन बर्बाद नही करेगा किन्तु जीवन का उत्कर्ष साधने मे भी धन को निमित्त बनाएगा।

अगर तुम्हे प्रतीति है कि धन तुम्हारे लिए है, धन के लिए तुम नही हो तो धन के लिए कभी पाप तो नही करते?

असत्य भाषण करना विश्वासघात करना, पिता–पुत्र के बीच क्लेश होना यह सब किसलिए है? इन सब बुराइयो का मूल कौन है? धन के ही लिए ससार मे घोर क्लेश हो रहे है पापाचरण हो रहे है। इससे स्पष्ट मालूम होता हे कि लोगो ने धन को साधन नही साध्य मान लिया है। और वह आत्मा से भी अधिक आत्मीय बन गया है। लोगो के इस भ्रम के कारण ही ससार मे दु ख व्याप रहा है बढ रहा है। धन को साधन मानकर लोकहित के कार्यो मे व्यय करना धन का सदुपयोग है।

धन के सद्व्यय के लिए हृदय मे उदारता होनी चाहिए। जहॉ हृदय मे उदारता नही वहॉ धन का सद्व्यय नही हो सकता। धन के प्रति हृदय मे ममता रहती है उसका त्याग करने मे ही आत्मा का कल्याण है।

वित्तेण ताण न लभे पमत्ते।

प्रमादी पुरुष धन से त्रास–रक्षण नही पा सकता। धन किसी को मोत से नही बचा सकता। वह दुखो का सर्जन करता हे।

धन को साधन मानकर उसके प्रति निर्ममत्वी बनना, उसे आत्मा को न ग्रसने देना इतनी महत्त्व की बात हे कि उसके बिना जीवन का अभ्युदय सिद्ध नही हो सकता।

यह मेरा हे वह तेरा हे मुझे यह करना है यह नही करना हे इस प्रकार की घटना ससार मे अनवरत रूप से दिन–रात चलती रहती है। जीवन छोटा है काम बहुत है। ऐसी अवस्था मे कोई भी व्यक्ति अपना काम पूरा नही कर सकता। किसी व्यक्ति ने अपनी इच्छानुसार ससार के सब काम कर लिए हो और वह कृतकृत्य हो गया हो ऐसा आज तक कभी हुआ नही और हो सकता भी नही। मेने अमुक कार्य किया हे और अमुक कार्य करूँगा इस प्रकार की लालसा जीव के साथ सदेव लिपटी रहती हे। यह लालसा कभी पूरी नही हो सकती। कठ के आभूषण तेयार हुए न हुए कि हाथ के आभूषणो की चर्चा होती है। हाथ के आभूषण तेयार होते ही पेर के आभूषणो की

आदि। चेतन मे मनुष्य पशु–पक्षी पृथ्वी वृक्ष आदि समस्त सजीव पदार्थो का ग्रहण हो जाता है। यह ससार जड और चेतन के सयोग से ही है। ससार मे जो कुछ भी दिखाई देता है वह या तो जड है या चेतन है। इसलिए जड और चेतन भेद मे ससार के समस्त पदार्थ आ जाते है।

भगवती सूत्र मे गोतम स्वामी के प्रश्न करने पर भगवान् ने कर्म शरीर ओर भण्डोपकरण ये तीनो परिग्रह बताये हैं। ये तीनो परिग्रह भी बाह्य ओर आभ्यन्तर भेदो मे आ जाते है। इसलिए इनके विषय मे पृथक् कुछ कहने की आवश्यकता नही रहती। भगवान ने ये तीन परिग्रह सम्भवत साधु के लिए बताये है। अर्थात् इस दृष्टि से बताये हे कि साधु के साथ भी ये तीन परिग्रह लगे हुए है ओर जब तक साधु इन तीनो से अलग नही होता है तब तक उसे मोक्ष नही मिल सकता। जो भी हो यहॉ तो परिग्रह के भेद बताने है।

इस भेद–वर्णन का यह अर्थ नही है कि पदार्थ ही परिग्रह है। पदार्थ परिग्रह नही हे किन्तु उसके पति जो ममत्व भाव आसक्ति रूप मे रहा होता है वह ममत्व–भाव ही परिग्रह हे और इस कारण जिस पदार्थ के प्रति ममत्व–भाव है औपचारिक नय से वह पदार्थ भी परिग्रह माना जाता है। क्योकि ममत्व–भाव पदार्थ पर ही होता हे, इसलिए ममत्वभाव होने पर ही पदार्थ परिग्रह है। लेकिन उस समय तक कोई भी पदार्थ परिग्रह रूप नही हे जब तक कि स्वय मे उसके प्रति ममत्वभाव नही हे। पदार्थ के प्रति ममत्व-भाव होने पर ही पदार्थ परिग्रह होता हैं।

ससार म अनेक प्राणी हे। सब पाणियो की रुचि एक समान नही किन्तु अलग–अलग होती है। एक ही योनि के प्राणियो की रुचि म भिन्नता रहती हे तब अनेक योनियो के प्राणियो की रुचि मे भिन्नता होना स्वाभाविक ही हे। इसलिए समस्त प्राणियो को किसी एक ही पदार्थ से ममत्व नही किन्तु किसी पाणी को किसी पदार्थ से ममत्व होता हे ओर किसी को किसी पदार्थ स। यह बात दूसरी हे कि एक ही पदार्थ से अनेक पाणी ममत्व करते हो परन्तु सब पाणियो का ममत्व किसी एक ही पदार्थ तक सीमित नही रहता। अपनी–अपनी रुचि क अनुसार भिन्न–भिन्न एक या अनक पदार्थ से ममत्व होता है। जिस वस्तु से नरक के जीव ममत्व करते हे स्वर्ग क जीव उसस [illegible] या विपरीत वस्तु स ममत्व करते हे। यही बात अन्य योनि क जीवो क लिए [illegible]। किस योनि के जीवो को किन पदार्थो स ममत्व होता ह सब [illegible] यह बताना कठिन भी ह आर अनावश्यक भी ह। यहॉ [illegible] मनुष्यो के लिए ही ह। अत [illegible] मनुष्यो क

विषय मे इस वात का विचार किया जाता है कि मनुष्यो को किन–किन पदार्थो से ममत्व होता हे।

आभ्यन्तर परिग्रह

मनुष्य वाह्य परिग्रह युक्त भी होता हे ओर आभ्यन्तर परिग्रह युक्त भी। अर्थात् उसको मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय आदि आभ्यन्तर विचार रूप पदार्थो से भी ममत्व होता हे ओर वाह्य दृश्यमान–जड तथा चेतन पदार्थो से भी। आभ्यन्तर परिग्रह के अन्तर्गत कहे गये मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि का स्वरूप शास्त्रो मे विस्तृत रीति से बताया गया हे। यदि इनके स्वरूप और भेदोपभेद का पूर्ण विवरण यहाँ किया जाय तो विषय वहुत बढ जायेगा। इसलिए इस विषय का वर्णन सक्षेप मे ही किया जाता हे।

मिथ्यात्व–जिस मोहनीय कर्म के उदय होने पर आत्मा आत्मभाव को विस्मृत कर परभाव यानी पौद्गलिक भाव मे ही रमण करे, या प्रकट मे तत्वो की यथार्थ व्याख्या करके भी हृदय मे विपरीत विचार रखे, वीतराग के वाक्यो को न्यूनाधिक रूप मे श्रद्धे और अनेकान्त स्याद्वादमय सिद्धान्त को एकान्तवाद का रूप दे वह मिथ्यात्व हे। मिथ्यात्व भी परिग्रह हे।

तीन वेद–आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर जिस विकृत अवस्था क प्रवाह मे बहता हुआ स्त्रीत्व, पुरुषत्व या नपुसकता को वेदे उस अवस्था का नाम वेद है। यह तीन प्रकार का वेद भी आभ्यन्तर परिग्रह मे हैं।

छ नोकषाय–हास्यादिक छ अवस्थाएँ भी आभ्यन्तर परिग्रह मे हैं। किसी के सयोग–वियोग का या पोद्गलिक लाभ–हानि से कौतूहल पेदा होना हास्य कहलाता हे। किसी शुभ पदार्थ के सयोग स हर्ष या अशुभ पदार्थ के सयोग से विषाद करना रति–अरति कहलाता हे। किसी अप्रिय पदार्थ को देखकर डरना भय कहलाता हे। किरी प्रिय पदार्थ क वियोग से दु खित होना शांक कहलाता हे। प्रतिकूल तथा अरुचिकर पदार्थ रा घृणा होना दुगुछा (जुगुप्सा) कहलाता हे। ये छह भी आभ्यन्तर परिग्रह मे हैं।

चार कषाय–क्रोध मान माया ओर लोभ य चारा कषाय भी आभ्यन्तर परिग्रह म हे।

वाह्य परिग्रह

वाह्य परिग्रह के प्रधानत जड ओर चतन एरा दा भद हैं। सुविधा की दृष्टि से शास्त्रकारो न वाह्य परिग्रह क दा भदा का छ मागा म विभक्त कर

दिया है। उनका कथन है कि जितना भी बाह्य परिग्रह है अर्थात् दृश्यमान जगत् के जिन पदार्थो से आत्मा को ममत्व होता है उन सब पदार्थो को छ श्रेणी मे बाटा जा सकता है। वे छ श्रेणी इस प्रकार हैं– धन–धान्य, क्षेत्र, वस्तु, द्विपद और चौपद। इन छ श्रेणियो मे प्राय समस्त पदार्थ आ जाते हैं। यदि चाहो, तो इन छ भेदो को भी कनक और कामिनी इन दो भेदो मे लाया जा सकता है। जड और चेतन पदार्थो मे से किन्हीं उन दो पदार्थो को, जिनके प्रति सबसे अधिक ममत्व होता है, पकड लेने से दूसरे समस्त पदार्थ भी उनके अन्तर्गत आ जायेगे। विचार करने पर मालूम होगा, कि मनुष्यो को बाह्य पदार्थो मे सबसे अधिक ममत्व कनक और कामिनी से होता है। कनक–अर्थात् सोना–के अन्तर्गत समस्त जड पदार्थ आ जाते हैं। क्योकि बाह्य पदार्थो मे मनुष्य को इन दोनो मे से अधिक किसी पदार्थ से ममत्व नही होता। उत्तराध्ययन सूत्र मे गौतम स्वामी को उपदेश देते हुए भगवान् महावीर ने भी कहा है –

चिच्चाण धण च भारिय, पव्वइओ हि सि अणगारिय।
मा वत पुणो वि आविए, समय गोयम मा पमायए।।

अर्थात्–हे गौतम ! जिस धन और स्त्री को त्याग कर अनगार हुआ है, उसके जाल मे पुन मत पडना और इस ओर समय मात्र का भी प्रमाद मत करना।

परिग्रह के आभ्यान्तर और बाह्य भेदो का वर्णन सक्षेप मे किया जा चुका है। अब आगे जो वर्णन किया जा रहा है, वह विशेषत बाह्य परिग्रह को लक्ष्य बनाकर। व्यवहार मे बाह्य परिग्रह की ही प्रधानता है, लेकिन बाह्य परिग्रह का आधार आभ्यन्तर परिग्रह है। जब तक आभ्यन्तर परिग्रह पूर्णत विद्यमान है, तब तक प्राणी परिग्रह का रूप भी सुनना–समझना नही चाहता और न यह मानने को तैयार ही होता है कि परिग्रह त्याज्य है। जब आभ्यन्तर परिग्रह का थोडा भी जोर कम होगा, अर्थात् मिथ्यत्व रूप परिग्रह अन्त करण से दूर होगा तभी प्राणी यह सुन सकता है, कि अमुक वस्तु, विचार या कार्य परिग्रह है। और फिर चारित्र मोहनीय का जितने अश मे क्षय उपशम या क्षयोपशम हुआ होगा उतने अश मे परिग्रह को त्याग भी सकेगा। यह समस्त वर्णन भी उन्ही के लिये उपयोगी हो सकता है, जो आभ्यन्तर परिग्रह मे कम से कम मिथ्यात्व रूप परिग्रह से निवृत्त हो चुके हो। ऐसे ही लोगो को यह बताना है कि आत्मा पर परिग्रह का कैसा बोझ है? यह बात यद्यपि बताई जा रही है बाह्य परिग्रह के नाम पर लेकिन बाह्य परिग्रह और आभ्यान्तर परिग्रह का परस्पर अत्यधिक गहरा सम्बन्ध है। इसलिए बाह्य परिग्रह विषयक

वर्णन के साथ आभ्यन्तर परिग्रह का वर्णन भी आप ही आ जाएगा। बाह्य परिग्रह के भेदोपभेद का विशेष वर्णन प्रसगवश आगे होगा ही, फिर भी प्रश्नव्याकरण सूत्र मे परिग्रह को वृक्ष का रूप देकर जो कुछ कहा गया हे, यहाँ उसका वर्णन करना उचित होगा।

प्रश्न व्याकरण सूत्र मे परिग्रह को वृक्ष का रूप देकर कहा है कि इस परिग्रह रूपी वृक्ष की जड तृष्णा हे। मणि, हीरे, जवाहरात आदि सब प्रकार के रत्न तथा अन्य मूल्यवान् पदार्थ, सोना, चाँदी आदि द्रव्य, स्त्री परिजन, दास–दासी आदि द्विपद, घोडा, हाथी, बेल, भेंस, ऊँट, गधे, मेड, बकरी आदि चतुष्पद, रथ, गाडी, पालकी प्रभृति वाहन, अन्न आदि भोज्य पदार्थ, पानी आदि पेय पदार्थ, वस्त्र, बर्तन, सुगन्धित– द्रव्य, ओर घर, खेत, पर्वत, खदान, ग्राम, नगर आदि पृथ्वी की इच्छा–मूर्च्छा, ही इस परिग्रह रूपी वृक्ष की जड हे।

प्राप्त वस्तु की रक्षा चाहना ओर अप्राप्त वस्तु की कामना करना परिग्रह वृक्ष का मूल है। क्रोध, मान, माया, लोभ इसके स्कन्ध हैं। प्राप्त की रक्षा और अप्राप्त की इच्छा से की गई अनेक प्रकार की चिन्ताएँ इस वृक्ष की डालियाँ हैं, इन्द्रियो के काम–भोग इस वृक्ष के पत्ते, फूल तथा फल हें। अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक क्लेश इस वृक्ष का कम्पन है। इस प्रकार परिग्रह एक वृक्ष के समान है।

यह तो कहा ही जा चुका है कि ममत्व का नाम ही परिग्रह हे। ममत्व रूपी परिग्रह की जड इच्छा ओर मूर्च्छा हे। वस्तु के प्रति जो ममत्व–भाव होता है, वह एक तो इच्छा रूप होता है, और दूसरा मूर्च्छा रूप रहता हे। 'इच्छा' 'कामना' 'तृष्णा' या 'लोभ' कुछ भेद के साथ पर्यायवाची शब्द हें। इसी प्रकार 'मूर्छा' 'गृद्धि' 'आसक्ति' 'मोह' ओर 'ममत्व'' भी कुछ भेद के साथ पर्यायवाची शब्द हैं। जो वस्तु अप्राप्त हे, उसकी चाह होना, उसके न मिलने पर दु खित ओर मिलने पर प्रसन्न होना, इच्छा, तृष्णा या कामना है। ओर जो वस्तु प्राप्त है उसकी रक्षा चाहना उसकी रक्षा का प्रयत्न करना, उसकी रक्षा के लिए चिन्तित रहना, उसकी कोई हानि न हो उसे कोई ले न जावे या वह वस्तु चली न जावे इस प्रकार का भय होना, उस वस्तु म अनुरक्त रहना, उसमे अपना जीवन मानना ओर उसके जाने पर दु ख करना यह मूर्च्छा हे। इस प्रकार की इच्छा या मूर्च्छा का नाम ही ममत्व हे ओर जिस वस्तु के प्रति ममत्व हे वही परिग्रह हे। तत्वार्थसूत्र के रचयिता श्री उमा स्वामी ने कहा हे–

मूर्छा परिग्रह वुत्तो

अर्थात्–मूर्छा ही परिग्रह हे।

इच्छा–मूर्च्छा

कामाना हृदये वास, ससार इति कीर्तित।
तेषां सर्वात्मना नाशो, मोक्ष उक्तो मनीषिभि ।।

अर्थात्–बुद्धिमान लोग कहते हैं कि हृदय मे कामनाओ का निवास ही ससार' (जन्म–मरण) है, और समस्त कामनाओ का नाश ही 'मोक्ष' (जन्म–मरण से छूटना) है।

पहले कहा जा चुका है कि ममत्व ही परिग्रह है। वह ममत्व इच्छा तथा मूर्च्छा रूप होता है। इस प्रकार इच्छा या मूर्च्छा का नाम ही ममत्व या परिग्रह है। इसलिये अब यह देखते हैं कि इच्छा और मूर्च्छा का जन्म कैसे होता है ? तथा इनका स्वरूप कैसा है ?

ससार मे जन्म लेने वाले प्राणी कर्म–लिप्त होते हैं। यदि कर्म–लिप्त न हो, तो ससार मे जन्म ही न लेना पडे। यह बात दूसरी है, कि कोई जीव कर्मो से कम लिप्त है और कोई अधिक लिप्त है। लेकिन जो ससार मे जन्मा है वह कर्मलिप्त अवश्य है। कर्मलिप्त होने के कारण आत्मा अपने स्वरूप को नही जानता। जानता भी है तो विश्वास या दृढता नही रखता। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। यह 'सत्' अर्थात् सदा रहने वाला 'चिद्' अर्थात् चैतन्य रूप और 'आनन्द अर्थात सुख–निधान है। यह स्वय सुख रूप है, फिर भी कर्मलिप्त होने के कारण अपने मे रहा हुआ सुख नही देखता, स्वय मे जो सुख है उस पर विश्वास नही करता, लेकिन चाहता है सुख ही। इसलिये जिस प्रकार स्वय की नाभि मे ही सुगन्ध देने वाली कस्तूरी होने पर भी मृग घास–फूस को सूघ 2 कर उसमे सुगन्ध खोजता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वय मे रहे हुए सुख को भूल कर दृश्मान जगत् मे सुख मानने लगता है। दृश्यमान जगत मे सुख है यह समझकर आत्मा बुद्धि को और बुद्धि मन को प्रेरित करती है तथा मन उस सुख को प्राप्त करने के लिए चचल हो उठता

है। इस प्रकार मन मे सासारिक पदार्थो की इच्छा उत्पन्न होती है। अर्थात् वाह्य जगत् मे सुख मानने से मन मे चचलता आती हे ओर मन की ऐसी चचलता से इच्छा का जन्म होता है।

मन विशेषत इन्द्रियानुगामी होता हे। यह इन्द्रियो के साथ जाना अधिक पसन्द करता हे! रुकावट न होने पर मन इन्द्रियो के प्रिय मार्ग पर ही चलता हैं आर इन्द्रिया अपने विषयो मे ही सुख मानती हे। यद्यपि विषयो को ग्रहण करने वाली इन्द्रियॉ ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं, उनका काम पदार्थो का ज्ञान कराना है, लेकिन जब बुद्धि मन के अधीन हो जाती है और मन इन्द्रियो का अनुगामी बन जाता हे, इन्द्रियो के साथ हो जाता हे, तब इन्द्रियॉ स्वेच्छाचारिणी बन जाती हें तथा विषयो मे सुख मान कर उनकी ओर दोडने लगती हें। इस प्रकार कर्म लिप्त होने के कारण आत्मा सुख चाहता हुवा भी बुद्धि पर शासन नहीं कर सकता। बुद्धि से उसे अच्छी सम्मति नही मिलती किन्तु मन की इच्छानुसार सम्मति मिलती है ओर मन इन्द्रियानुगामी हो जाता है, इसलिए वह इन्द्रियो की रुचि के अनुसार ही इच्छा करता हे। इस तरह इन्द्रियो मन ओर बुद्धि के अधीन होकर आत्मा इन्द्रियग्राह्य विषयो मे ही सुख मानने लगता हे और मन को ऐसे ही सुखो की इच्छा करने के लिए–ऐसे ही सुख प्राप्त करने के लिए–बुद्धि द्वारा प्रेरित करता हे। इस प्रकार सासारिक पदार्थो की इच्छा का जन्म होता हे।

मनुष्यो को जिन सासारिक पदार्थो की इच्छा होती हे, वे पदार्थ शब्द, रूप, रस, गन्ध ओर स्पर्श, या इनमे से किसी एक विषय का पोषण करने वाले ही होते हें। ऐसा कोई भी पदार्थ नही होगा, जिसके प्रति इच्छा तो हे लेकिन वह पदार्थ शब्द, रूप, रस, गध ओर स्पर्श इन पॉचो या इनमे से किसी एक का भी पोषक नही हे। प्राय प्रत्येक पदार्थ की इच्छा, इन्द्रियो ओर मन की विषय–लोलुपता से ही होती हे। इस प्रकार विचार करने से इस निर्णय पर आना होता हे कि मन की चचलता ओर इन्द्रियो की स्वच्छन्दता से इच्छा का जन्म होता हे।

इच्छा के साथ ही मूर्च्छा का जन्म होता हे। इच्छा ओर मूर्च्छा का अविनाभावी सम्वन्ध हे। जेसे धुऍ के साथ आग का सम्वन्ध हे–जहॉ धुआ हे वहा आग भी हे–उसी प्रकार जहॉ इच्छा हे, वहॉ मूर्च्छा भी हे और जहॉ मूर्च्छा हे वहॉ इच्छा तो हे ही।

जीव जव ससार मे जन्मता हे तव पूर्व जन्म क सस्कार होने के कारण सासारिक पदार्थो की इच्छा भी साथ ही जन्मती हे। फिर जेसे–जेसे

अवस्था बढती जाती है, मन मे चचलता आती जाती है, पदार्थ–जगत् का परिचय होता जाता है, पूर्व सस्कार विकसित होते जाते हैं और कल्पनाशक्ति की वृद्धि होती जाती है, वैसे–वैसे इच्छा की भी वृद्धि होती जाती है। अवस्था, मन, पदार्थो का परिचय और कल्पनाशक्ति की वृद्धि के साथ ही इच्छा की भी वृद्धि होती जाती है, और होते–होते इच्छा का ऐसा रूप हो जाता है, जिसके लिए शास्त्र मे कहा है –

इच्छा हु आगास समा अणन्तिया।

अर्थात्–जैसे आकाश का अन्त नही है, उसी प्रकार इच्छा का भी अन्त नही है।

मनुष्य जब जन्मता है, तब उसकी इच्छा माता के दूध तक ही सीमित रहती है, अधिक नही होती। फिर वह जैसे–जैसे बडा होता जाता है, उसकी इच्छा भी बढती जाती है। जो मनुष्य बचपन मे केवल माता के दूध की ही इच्छा करता था, वह कुछ बडा होकर खाद्य पदार्थो, खेल–सामग्री या ऐसी ही दूसरी चीजो की इच्छा करने लगता है। जब और बडा होता है, तब कपडे–लत्ते और खाद्य तथा खेल–सामग्री के लिए पैसे आदि की इच्छा करता है। फिर स्त्री पुत्र, पौत्र, धन–दौलत प्रभृति की इच्छा करता है। इस प्रकार वह जैसे–जैसे बडा होता जाता है, और सासारिक पदार्थो को अधिक–अधिक जानता है, उसकी इच्छा भी बढती जाती है।

मनुष्य विशेषत इहलौकिक और पारलौकिक पदार्थो की इच्छा करता है लेकिन उसकी इच्छा इहलौकिक और पारलौकिक देखे–सुने हुए पदार्थो तक ही सीमित नही रहती, किन्तु जिन पदार्थो को कभी देखा–सुना नही है, उन पदार्थो की भी कल्पना करता है और उनकी भी इच्छा करता है। इस प्रकार इच्छा अनन्त ही रहती है, उसका अन्त ही नही आता। अर्थात् यह नही होता कि अब इच्छा नही। बुढापा आने पर तो इच्छा बहुत ही बढ जाती है। उस समय वह कैसी होती है इसके लिए एक कवि कहता है –

वलिभिर्मुखमाक्रान्त पलितैरकित शिर ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते।।

अर्थात्–बुढापे के कारण मुँह पर सल पड गये हैं, सिर के बाल पक कर सफेद हो गये है और शरीर के सब अग शिथिल हो गये हैं लेकिन तृष्णा तो जवान हो गई है। पहले से भी बढ गई है।

तात्पर्य यह कि मनुष्य के साथ ही इच्छा का भी जन्म होता है लेकिन मनुष्य की आयु तो क्षीण होती जाती है और इच्छा वृद्धि पाती जाती

है। अवस्था के कारण तृष्णा की वृद्धि तो अवश्य होती हे परन्तु उसमे न्यूनता नही आती।

इच्छानुसार पदार्थो की प्राप्ति भी इच्छा को घटाने मे समर्थ नही है। पदार्थो का मिलना भी इच्छा की वृद्धि का ही कारण होता है। ससार मे ऐसा एक भी व्यक्ति न होगा, जिसकी इच्छा इच्छानुसार पदार्थ मिलने से नष्ट हो गई हो। ऐसा होता ही नही हे। हॉ, पदार्थो के मिलने से इच्छा की वृद्धि अवश्य होती है। इच्छा की जेसे–जेसे पूर्ति होती जाती है, वेसे–वेसे वह तीव्र गति से बढती जाती है। जो मनुष्य कभी पेट भरने के लिए रूखी–सूखी रोटी और ठड से बचने के लिए फटे–मोटे कपडे की इच्छा करता हे, वही इनके प्राप्त हो जाने पर स्वादिष्ट भोजन और सुन्दर वस्त्रो की इच्छा करता हे। जब ये भी प्राप्त हो जाते हैं तब थोडे से धन की इच्छा करता है, और साथ ही साथ स्त्री, सुन्दर भवन तथा भोगविलास की सामग्री भी चाहता है। इन सबके मिल जाने पर पुत्र, पौत्र आदि की, फिर थोडी–सी भूमि की, थोडे से अधिकार की, फिर राज्य की, साम्राज्य की, समस्त पृथ्वी की और स्वर्गादि की इच्छा करता है। एक कवि ने कहा ही हे–

परिक्षीण कश्चित्स्पृहयति यवाना प्रसृतये–
स पश्चात्सपूर्ण कलयति धरित्री तृणसमाम्।
अतश्चानेकान्त्याद् गुरु लघु तयार्थेषु धनिना–
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च सकोचयति च।।

अर्थात्–जब मनुष्य दरिद्री होता है, तब तो एक पस जो की भूसी की ही इच्छा करता है, पर जब धनवान् हो जाता है, तब सारी पृथ्वी को भी तृण समान मानता हे। इस प्रकार मनुष्य की अवस्थाविशेष ही वस्तु के विषय मे भिन्नता पैदा करती हे।

इस प्रकार जब तक कोई वस्तु प्राप्त नही हे, तब तक तो मनुष्य को उस अप्राप्त वस्तु की इच्छा होती हे, लेकिन जब वह अप्राप्त वस्तु प्राप्त हा जाती हे, तब उससे भी आगे की अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता हे। जेसे–जेसे पदार्थ प्राप्त होते जाते हैं, वैसे–वैसे उनसे आगे के बढिया पदार्थो की इच्छा होती है। इस तरह ससार की सामग्रियो का अन्त तो आ सकता हे, लेकिन इच्छा का अन्त नही आता।

इच्छा की तरह मूर्च्छा भी मनुष्य के साथ ही जन्मती ओर उत्तरोत्तर वृद्धि पाती जाती हे। वचपन मे मनुष्य माता ओर माता के दूध से ही ममत्व करता हे। फिर खेलने के पदार्थ ओर खाद्य पदार्थ से भी। इसी प्रकार अवस्था

के बढने से जैसी तृष्णा बढती है उसी प्रकार मूर्च्छा भी बढती जाती है। मूर्च्छा कभी भी शान्त नही होती। वृद्धत्व के कारण भी मूर्च्छा के अस्तित्व मे अन्तर नही पडता। बल्कि वृद्धत्व मूर्च्छा की वृद्धि करता है। बचपन और जवानी मे किसी पदार्थ के प्रति जितनी मूर्च्छा होती है उससे कई गुनी अधिक मूर्च्छा बुढापे मे हो जाती है। बचपन या जवानी मे कोई व्यक्ति प्राप्त पदार्थ के त्याग मे जिस प्रकार की उदारता रखता है, वृद्धावस्था आने पर प्राय वैसी उदारता नही रहती। वृद्धावस्था आने पर उसे पहले की तरह पदार्थ को अपने से दूर करने मे दु ख होता है, और यदि विवश होकर उसे पदार्थ त्यागना पडता है अथवा उसकी इच्छा के विरुद्ध उससे पदार्थ छूट जाता है तो उसको उस समय–बचपन या जवानी मे उक्त कारण से जो दु ख हो सकता है उससे कई गुना अधिक होता है। इस प्रकार अवस्था के कारण मूर्च्छा की वृद्धि तो अवश्य होती है पर उसमे न्यूनता नही आती। अधिक पदार्थो की प्राप्ति भी मूर्च्छा को न्यून नही करती, किंतु वृद्धि ही करती है। आज जिसके पास केवल चार पैसे है, उसकी मूर्च्छा उन चार पैसो मे ही रहती है, लेकिन आगे यदि उसे विशाल राज्य प्राप्त हो जावे तो वह उस राज्य मे मूर्च्छित रहने लगता है। फिर उसको यह विचार नही होता कि मेरे पास तो केवल चार ही पैसे थे अत मै इस राज्य पर मूर्च्छा क्यो करुँ? वह उसमे मूर्च्छित रहता है और आगे यदि उसे विशाल साम्राज्य प्राप्त हो जावे तो उस व्यक्ति मे उस साम्राज्य के प्रति भी मूर्च्छा रहेगी।

यहॉ यह विचार करना आवश्यक है कि इच्छा ओर मूर्च्छा का अन्त क्यो नही होता? इच्छा ओर मूर्छा का अन्त न होने का कारण यह है कि आत्मा सुख का इच्छुक है। वह सुख प्राप्ति के लिए ही सासारिक पदार्थो की इच्छा ओर उनसे मूर्च्छा करता है, लेकिन सासारिक पदार्थो मे सुख है ही नही। सुख तो स्वय आत्मा मे ही है, अज्ञान अथवा भ्रमवश उसको न देखकर आत्मा बाह्य पदार्थो मे सुख मानता है। इसलिए सुख की इच्छा से आत्मा जिसे पकडता है सुख उससे आगे के पदार्थो मे दिखाई देता है। जैसे मृगतृष्णा को देखकर मृग जल की आशा से दोड कर जाता है, लेकिन उसको जल और आगे ही आगे जाता हुआ जान पडता है, इसलिये वह आगे से आगे दौडता जाता है। इस प्रकार मृगतृष्णा मे जल की खोज करता हुआ वह दौडता–दौडता मर जाता है परन्तु उसे मृगतृष्णा से जल नही मिलता।

इसी प्रकार आत्मा पहले किसी एक पदार्थ मे सुख देखता है लेकिन जब वह पदार्थ प्राप्त हो जाता है

पडता किन्तु अप्राप्त पदार्थ मे सुख जान पडने लगता है। इसलिए उस अप्राप्त पदार्थ की इच्छा करता है। इस प्रकार सुख की इच्छा से वह अधिकाधिक आगे के पदार्थो की इच्छा करता जाता है, परन्तु उसे किसी भी पदार्थ मे सुख नही मिलता। फिर भी आत्मा को भ्रम यही रहता है कि सुख इन पदार्थो मे ही है। इस भ्रम के कारण वह पदार्थो की इच्छा करता ही जाता है। यहाँ तक कि पदार्थो का अन्त तो आ जाता हे, परन्तु इच्छा का अन्त नहीं आता और जब इच्छा का अन्त नहीं आता, तब मूर्च्छा का अन्त कैसे आ सकता है ? इस प्रकार जब तक आत्मा स्वय में रहे हुए सुख को नहीं देख, बाह्य पदार्थो मे सुख मानता है, तब तक इच्छा और मूर्च्छा का भी अन्त नहीं हो सकता।

इच्छा से मूर्च्छा का और मूर्च्छा से सग्रहबुद्धि का जन्म होता है। इच्छित पदार्थ के मिलने पर उससे मूर्च्छा होती है, और जिनके प्रति मूर्च्छा है, उनको त्यागा नही जा सकता। इसलिए उनका सग्रह करता है। यद्यपि पदार्थ की इच्छा सुख–प्राप्ति के लिए ही होती है, और इच्छित पदार्थ के मिल जाने पर उसमे सुख नही जान पडता–किन्तु दूसरे अप्राप्त पदार्थ मे सुख जान पडने लगता है–फिर भी आत्मा प्राप्त पदार्थ को छोडना नही चाहता। उस प्राप्त पदार्थ से उसे ममत्व हो जाता है, इसलिए ऐसे पदार्थो का सग्रह करता जाता है। इस प्रकार इच्छा से मूर्च्छा का और मूर्च्छा से सग्रहबुद्धि का जन्म होता है।

परिग्रह से हानि।

कलह कलभविन्ध्य क्रोधगृध्रश्मशानम्।
व्यसन भुजगरन्ध्र द्वेषदस्यु प्रदोष ।।
सुकृत वनदवाग्निर्मार्दवाभोद वायु –
र्नयनलिन तुषारोऽत्यर्थमर्थानुराग ।।

अर्थात्–अर्थानुराग (ममत्व) कलह रूपी बालहाथी को क्रीडा करने के लिये विन्ध्याचल के समान है। जिस प्रकार हाथी का बच्चा वन (पर्वत) मे क्रीडा करता है, उसी पकार जहॉ परिग्रह हे, वहॉ कलह क्रीडा करता है। कलह का स्थान परिग्रह ही है। क्रोध रूपी गिद्ध के लिये परिग्रह श्मशान तुल्य है। जैसे गिद्ध को श्मशान प्रिय होता है–वहॉ उसे भोजन मिलता हे–उसी पकार क्रोध का स्थान परिग्रह हे। जहॉ परिग्रह है वहॉ क्रोध भी अवश्य है। अथवा क्रोध वही रहता है जहॉ परिग्रह है। परिग्रह, दुर्व्यसन रूपी सॉप के लिए बॉबी के समान है। जहॉ परिग्रह है, वहॉ सभी प्रकार के दुर्व्यसन है। जैसे सन्ध्या होने पर चोर डाकुओ का जोर चलता है, उसी प्रकार परिग्रह होने पर द्वेष का भी जोर चलता है। द्वेष वही रहता है, जहॉ परिग्रह है। सुकृत रूपी वन के लिए परिग्रह अग्नि के समान हे। जैसे आग जगल को जला देती है, उसी प्रकार परिग्रह सुकृत को नष्ट कर देता है। जिस प्रकार बादलो का दुश्मन पवन हे उसी प्रकार मृदुता का दुश्मन परिग्रह है। जैसे हवा आने पर बादल नही ठहर सकते, उसी प्रकार जहॉ परिग्रह है वहॉ मृदुता नही रह सकती। न्याय को तो परिग्रह उसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस तरह कमल–वन को पाला नष्ट कर देता हे। तात्पर्य यह कि परिग्रह, कलह, क्रोध, दुर्व्यसन तथा द्वेष का पोषक और सुकृत, मृदुता तथा न्याय का नाशक है।

परिग्रह द्वारा होने वाली हानि का यह स्थूल रूप बताया गया है। परिग्रह समस्त दु खो का कारण हे। परिग्रह से व्यक्ति की भी हानि होती है

समाज की भी। यह अध्यात्मिक हानि का कारण हे ओर शारीरिक हानि का भी। इसके द्वारा क्या–क्या हानि होती है, यह सक्षेप मे बताया जाता हे।

सग्रहबुद्धि का फल

इच्छा, मूर्च्छा रूप ममत्व से सग्रहबुद्धि का जन्म होता हे। इच्छा, मूर्च्छा होने पर, किसी पदार्थ की ओर से सन्तोष नही होता। चाहे जितनी सम्पत्ति हो, चाहे जैसा राज्य हो ओर चाहे जितनी स्त्रियॉ हो फिर भी यही इच्छा रहती है कि मैं ओर सग्रह करूँ। इस प्रकार की सग्रहबुद्धि ने ही ससार मे दु ख फैला रखा है। ससार मे जितने भी दु खी हें वे सब सग्रहबुद्धि के प्रताप से ही। वैज्ञानिको का कथन है, कि जीवन के लिए आवश्यक समस्त पदार्थ प्रकृति इस परिमाण मे उत्पन्न करती है कि जिससे सबकी आवश्यकता–पूर्ति हो सके। ऐसा होते हुए भी ससार मे नङ्गे भूखे लोग दिखाई देने का कारण लोगो की बढी हुई सग्रहबुद्धि ही है। कुछ लोग अपने पास आवश्यकता से अधिक पदार्थ सग्रह कर रखते हैं, और दूसरे लोगो को उन पदार्थो के उपयोग से वचित रखते है। इसी कारण लोगो को भूखा–नगा रहना पडता है। एक ओर तो कुछ लोग अपने यहॉ अत्यधिक अन्न जमा रखते है, जो सड जाता है, और दूसरी ओर कुछ लोग अन्न के बिना हाहाकार करते रहते हैं। एक ओर पेटियो मे भरे हुए वस्त्र सड रहे हैं, उन्हे कीडे खा रहे हें, और दूसरी ओर लोग जाडे से मर रहे हे। एक ओर कुछ लोग बडे–बडे मकानो मे ताले डाले रखते है, और दूसरी ओर कुछ लोगो के पास वर्षा शीत, ताप से बचने तक को स्थान नही है। एक ओर कुछ लोगो के पास इतनी ज्यादा भूमि हे कि जिसमे कृषि करना उनके लिए बहुत ही कठिन है, ओर दूसरी ओर कुछ लोगो को जमीन का इतना टुकडा भी नही मिलता जिसको जोत–बो कर वे अपना पेट पाल सके। कुछ लोगो के पास रुपये–पेसे का इतना अधिक सग्रह है, कि जिसे जमीन मे गाड रखा है या विदेशी बेको मे गुप्त रूप से जमा कर रखते हें उन्हे जिसकी आवश्यकता ही नही हे ओर दूसरी ओर कुछ लोग रत्ती–रत्ती, सोना–चॉदी या पेसे–पेसे के लिए तरसते हैं। इस प्रकार ससार मे जो वेषम्य दिखाई दे रहा हे यह सगहबुद्धि के कारण ही।

जिसकी आवश्यकता नही हे उसको अपने पास सग्रह कर रखन और उसके अभाव मे दूसरो को कष्ट पाने देने से ही बोल्शेविज्म –कॉमनिज्म–साम्यवाद् का जन्म हुआ है। इस प्रकार का वेषम्य रूस मे बहुत ज्यादा फेल गया था। अन्त मे पीडित लोगो ने क्रान्ति कर दी जिससे वहॉ

मुद्रा का दुष्परिणाम

लोगो मे उसी पदार्थ को सग्रह करने [illegible] मे अपने अधिकार मे करने की भावना रहती है [illegible] पदार्थ सरलता से प्राप्त हो सके। आजकल ऐसा पदा[illegible] मुदा माना जाता है। जिस समय मुदा का प्रचलन नहीं [illegible] मे आज के लोगो की तरह सग्रह–बुद्धि भी नही होती थी। [illegible] मे आज का–सा वेषम्य, आज की–सी बेकारी और [illegible] होता था। जब विनिमयमुदा के अधीन नही था तब [illegible] परस्पर विनिमय होता था। उदाहरण के लिए उस समय किसी [illegible] आवश्यकता हुई और उसके यहाँ अन्न हे तो वह अन्न देकर [illegible] किसी के यहाँ नमक हे, और उसे घी की आवश्यकता है, तो वह [illegible] घी ले आता था। इस प्रकार वस्तु से वस्तु का विनिमय होता था। [illegible] वस्तु का विनिमय होना तो दूर रहा, किसी समय मुदा का प्रचलन ही [illegible]। ऐसे समय मे यदि कोई पदार्थो का सगह रखता भी तो कहाँ तक। [illegible] या ऐसे ही दूसरे पदार्थ, किसी निर्धारित समय तक ही रह सकते हे। अधिक समय होने पर बिगड जावेगे। इसलिए लोग ऐसे पदार्थो को अधिक दिनो तक नही रख सकते थे। लेकिन जब से मुदा का प्रचलन हुआ है, तब से सगह की कोई सीमा ही नही रही। विनिमय मुद्रा के अधीन रहा, और मुद्रा ऐसी धातु से बनी हे, जो सेकडो हजारो वर्ष तक भी न सडती है न घुलती हे। इसलिए लोग मुदाओ का सग्रह अधिक रखते हे, जिससे पदार्थो का विनिमय रुक जाता है और लोगो को कष्ट का सामना करना पडता है। जब कृषि आदि

द्वारा उत्पन्न पदार्थो का परस्पर विनिमय होता था, तब लोग अधिक सग्रह भी नही रखते थे, ओर पदार्थ खराब हो जावेगे, यह समझ कर उदारता से भी काम लेते थे। परन्तु जब से विनिमय स्वर्ण, रजत आदि धातु के अधीन हुआ है, तब से सग्रह की भी सीमा नही रही और उदारता का भी आधिक्य नही रहा। आज की विनिमय–पद्धति के लिए कहा तो यह जाता हे, कि मुद्रा (सिक्के) से विनिमय मे सुविधा हो गई है, परन्तु विचार करने पर मालूम होगा कि कृषि और गोपालन द्वारा उत्पन्न पदार्थो का विनिमय खनिज पदार्थो के अधीन हो जाने से ससार महान् दु खी हो गया हे। जब विनिमय मुदा के अधीन नही था, तब कृषक लोग भूमिकर मे उसी वस्तु का कोई भाग देते थे जो उन्हे कृषि द्वारा प्राप्त होती थी। ऐसा कर (महसूल) चक्रवर्ती तो उपज का बीसवॉ भाग लेते थे, वासुदेव दशमाश और साधारण राजा षष्ठाश लेते थे। इससे अधिक कर नही लिया जाता था। लेकिन आजकल कृषि से तो अन्न या दूसरे पदार्थ उत्पन्न होते हैं, और भूमिकर मुद्रा के रूप मे लिया जाता हे। इससे कृषको को अन्न आदि सस्ते भाव मे भी बेच देना पडता है इसके सिवा कृषि मे कुछ उत्पन्न हो या न हो, अथवा कम उत्पन्न हो, फिर भी भूमि कर (लगान) तो प्राय बराबर ही देना होता है। इस प्रकार जब से सिक्के का निर्माण और प्रचलन हुआ है, जनता अधिक दु खी हुई है। सिक्के के कारण व्यापारी भी थोडी ही देर मे धनवान बन जाता है, और थोडी ही देर मे दिवाला निकाल देता है। यह सिक्के का ही प्रताप है। इस प्रकार सिक्के के निर्माण और उसकी वृद्धि ने आपत्तियो की भी वृद्धि की है। इसलिए किसी एक बादशाह ने अपने राज्य मे भारी–भारी (वजनदार) सिक्का चलाया था। उसका कहना था कि सिक्का जितना भी कम हो उतना ही अच्छा है।

दु खो का मूल–परिग्रह

सासारिक पदार्थो से, आत्मा को कभी भी सुख नही मिलता क्योकि सासारिक पदार्थो मे सुख है ही नही। इसलिए उनसे चाहे जितना ममत्व किया जावे–उनको चाहे जितना सग्रह किया जावे–उनसे सदा दु ख ही होता है। ससार के प्राप्त पदार्थ भी दु ख देते हें और जो प्राप्त नही हें वे भी दु ख देते है। जो प्राप्त हैं, उन्हे प्राप्त करने मे भी दु ख उठाना पडा हे, उनके प्राप्त हो जाने पर भी दु ख ही हे ओर उनके जाने पर भी दु ख ही होता हे। जिसके पास जितने अधिक पदार्थ हें उसको उतनी ही अधिक चिन्ता हे, उतना ही भय है ओर उतनी ही अधिक अशान्ति हे। उदाहरण के लिए एक आदमी के

पास कुछ ही रुपये हैं और दूसरे के पास बहुत रुपये हैं। जिसके पास कुछ ही रुपये हैं उसे भी चिन्ता और भय तो रहेगा परन्तु कम रहेगा, ओर जिसके पास रुपयो की जोखम ज्यादा है उसको उतनी ही चिन्ता अधिक व भय भी अधिक रहेगा। उसको उस धन की रक्षा के लिए मकान, तिजोरी ताले और पहरेदार भी रखने पड़ेगे। यह सब होने पर भी चिन्ता तो बनी ही रहेगी। यह भय सदा ही रहेगा कि कोई मेरा धन न ले जावे। रात को सुख से नीद भी न आवेगी। और नौकर–चाकर स्त्री–पुत्र पर भी सन्देह रहेगा, तथा उनकी ओर का भय भी रहेगा। इसी प्रकार ससार की जितनी भी आपत्तियाँ हैं, सब परिग्रह के कारण ही हें। चोर–डाकू और आग–पानी आदि का भय परिग्रही को ही होता है। राजकोप आदि आपत्तियाँ भी परिग्रही पर ही आती हैं। किसी कवि ने कहा है –

संन्यस्त सर्वसगेभ्यो गुरुम्योऽप्यति शक्यते।
धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्पते।।1।।
सुत स्वजन भूपाल दुष्ट चौरारिविड्वरात्।
बन्धु मित्र कलत्रेम्यो धनिभि शक्यते भृश।।2।
स्वजातीयैरपि प्राणी सद्योऽभि द्रूयते धनी।
यथात्र सामिष पक्षी पक्षिभिर्बद्धमण्डलै ।।3।।

अर्थात्–धनवान् (परिग्रही) पुरुष धन की रक्षा के लिए रात को सोता भी नही है और पुत्र स्वजन, राजा, दुष्ट, चोर, बैरी, बन्धु, स्त्री, मित्र अथवा परचक्र आदि से, यहाँ तक कि जो समस्त परिग्रह के त्यागी हैं उन गुरु से भी शकित ही रहता है। उसको सभी की ओर से सन्देह रहता है। क्योकि धनवान् अर्थात् परिग्रही अपनी ही जाति के मनुष्यो द्वारा उसी प्रकार दु खित भी किया जाता है जिस प्रकार मासभक्षी पक्षियो द्वारा वह पक्षी दु खित किया जाता है जिसके पास मास का टुकडा है।

परिग्रह प्राप्त होने से पहले भी दु ख देता है, प्राप्त होकर भी दु ख देता है और छूटकर भी दु ख देता है। हॉ, यह अन्तर अवश्य है कि बडे परिग्रह के साथ बडा दु ख लगा हुआ है और छोटे के साथ छोटा दु ख है। लेकिन परिग्रह के साथ दु ख अवश्य है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को फूलो की माला की इच्छा हुई और दूसरे व्यक्ति को मोतियो की माला की इच्छा हुई। फूल की माला थोडे ही कष्ट से प्राप्त भी हो जावेगी उसकी रक्षा की चिन्ता भी थोडी ही करनी पडेगी, उसके जाने का भय भी थोडा ही रहेगा और उसके जाने या नष्ट होने पर दु ख भी थोडा ही होगा। परन्तु मोती की माला अधिक

कष्ट से प्राप्त होगी। उसकी रक्षा की चिन्ता भी अधिक करनी पडेगी, उसके जाने का भय भी अधिक रहेगा ओर यदि उसे चोर ले जावे, कोई छीन ले, या वह खो जावे, तो दु ख भी बहुत होगा। इस प्रकार थोडे दु ख और अधिक दु ख का अन्तर तो अवश्य हे, लेकिन परिग्रह के साथ दु ख अवश्य लगा हुआ हे। इसीलिए किसी कवि ने कहा हे–

अर्थानामर्जने दु ख, अर्जिताना च रक्षणे।
आये दु ख व्यये दु ख, धिगर्थ दु ख भाजनम्।।

अर्थात्–परिग्रह के उपार्जन मे दु ख हे, ओर उपार्जित के रक्षण मे भी दु ख है, इसलिए दु ख के पात्र परिग्रह को धिक्कार हे। एक और कवि भी कहता है –

दु खमेव धनव्याल विषविध्वस्तचेतसा।
अर्जने रक्षणे नाशे, पुसा तस्य परिक्षये।।

अर्थात्–धन रूपी सर्प के विष से जिनका चित्त खराब हो गया है, उन लोगो को सदा दु ख ही होता है। उन्हे धनोपार्जन मे भी दु ख होता हे, रक्षा करने मे भी दु ख होता है ओर धन के नाश अथवा व्यय मे भी दु ख होता है।

पदार्थो के पाने से पहले आत्मा का शान्ति आर स्वतन्त्रता प्राप्त रहता है, पदार्थ मिलने पर वह चली जाती है। उससे बन्धन मे भी पड जाना होता है। उदाहरण के लिए किसी पैदल जाते हुए को घोडा मिल गया। घोडा पाकर वह आदमी कुछ देर के लिए ऐसा चाहे समझ ले कि उसका शान्ति मिली हे और में स्वतन्त्र हुआ हूँ, परन्तु वास्तव मे घोडा पाकर वह दु खी तथा परतन्त्र हुआ है। अब उसे घोडे की चिन्ता ने ओर आ घेरा। वह पेदल चाहे जहाँ जब इच्छा हो तब जा सकता था, घोडा लिए हुए वहाँ और उस समय नही जा सकता। इसी प्रकार ससार के अन्य समस्त पदार्थो के लिए भी समझ लेना चाहिए। ससार के समस्त पदार्थ, स्वतन्त्रता का हरण करने वाले, परतन्त्र बनाने वाले तथा अशान्ति उत्पन्न करने वाले हे।

परिग्रही के दोष

परिग्रही मे दूसरे के प्रति सदा ही ईर्ष्या का भाव बना रहता हे। वह यही सोचाता रहता हे कि अमुक आदमी गिर जावे ओर में उससे वडा हो जाऊँ, वह व्यक्ति मेरी समानता का न हो जावे उसको अमुक वस्तु क्यो मिल गई आदि–2। इस प्रकार वह दूसरो का अहित ही चाहता रहता हे। वह

किसी पकार अपाप्त पदार्थ को पाकर उससे भी तभी तक [illegible] तक उसे वैसा पदार्थ दूसरो के पास नही दिख पडता। [illegible] पदार्थ देख कर उसके हृदय मे ईर्षा होती है और उस [illegible] मे सुख नही जान पडता। वह सोचता है कि इसमे क्या है? [illegible] के पास भी है।

परिगह निर्दयता भी लाता है हृदय को कठोर बनाता है। [illegible] परिगही है, वह उतना ही निर्दय और कठोर-हृदयी भी [illegible] निर्दयता और कठोरता न हो तो वह-लोगो का दुखी देख कर भी [illegible] पदार्थ-सग्रह नही रख सकता। इसी पकार परिग्रही व्यक्ति [illegible] कष्ट को तो महान् दुख समझता है लेकिन दूसरे के महान दुख की [illegible] भी पर्वाह नही होती। दूसरा कोई दुखी है तो रहे परिगही तो यही [illegible] है कि मेरे काम मे कोई बाधा न आवे। मेरे लिए दूसरे का कैसा [illegible] है? मेरे व्यवहार से दूसरे को कैसी व्यथा होती है? इन बातो की ओर [illegible] ध्यान भी नही जाता। वह तो समझता है कि कष्ट सह कर [illegible] लिए ही दूसरे लोग बने है और मै दूसरो को कष्ट देकर सुख [illegible] ही उत्पन्न हुआ हूँ। ऐसा व्यक्ति दीन दुखियो की सहायता के [illegible] खर्च भी कर देता हो, लेकिन उसका यह कार्य दया या सहृदयता की [illegible] से ही हुआ है ऐसा नही कहा जा सकता। वह प्राय लोगो को दि[illegible] यशस्वी बनने और अपने प्रति जनता को आकर्षित करके अपनी [illegible] दानियो मे कराने के लिए ही, सचित या प्राप्त परिग्रह का एक तुच्छ अ श द देता है। वस्तुत उसमे दया और सहृदयता हो ही नही सकती। यदि उसमे दया और सहृदयता हो तो वह परिग्रह के लिए किसी को किंचित् भी कष्ट नही दे सकता, न अपने पास अधिक रख उन पदार्थो के अभाव मे दूसरो को कष्ट ही पाने दे सकता है।

परिग्रह मे द्रोह की प्रधानता रहती है और जहाँ द्रोह है वहाँ प्रेम का अभाव स्वाभाविक ही है। इस प्रकार परिग्रह प्रेम का नाशक है। यह बात ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है।

सासारिक पदार्थो का सग्रह रखने वाला-उनसे ममत्व करने वाला-सासारिक पदार्थो को ही महत्त्व देता है। आत्मा और गुणो की तो उपेक्षा या अवहेलना ही करता है। वह सम्मान भी उसीका करता है जिसके अधिकार मे सासारिक पदार्थ अधिक है। इसके विरुद्ध जिसके पास सासारिक पदार्थो का वैसा आधिक्य नही है उसका आदर करना तो दूर रहा उसकी

ओर देखना भी पसन्द नही करता, न उसके सुख–दु ख की ही अपेक्षा करता है। चाहे वह गुणी हो अथवा दु खी हो। उसमे गुणी के प्रति प्रमोद–भावना और दु खी के प्रति करुणा–भावना नही होती।

परिग्रह के लिए आत्मा की भी अवहेलना की जाती है, और उससे भी द्रोह किया जाता हे। आत्मा को बडा नही समझा जाता, किन्तु परिग्रह को ही बडा समझा जाता है और आत्मा का आदर नही किया जाता, किन्तु परिग्रह का आदर किया जाता हे। जहॉ परिग्रह है, वहॉ आलस्य–अकर्मण्यता भी हे। दूसरे के श्रम का लाभ लूटने और स्वय का जीवन आलस्य एव विलास मे बिताने की ही भावना रहती है, तथा इसी प्रकार का प्रयत्न किया जाता है।

परिग्रही व्यक्ति स्वय को ही सब से अधिक गुणवान् समझता है। फिर चाहे उसमे दुर्गुण ही दुर्गुण क्यो न हो? एक कवि के कथनानुसार तो परिग्रही मे जरा भी गुण नही होता। यह कवि कहता है –

नाणवोऽपि गुणा लोके, दोषा शैलेन्द्रसन्निभा ।
भवन्त्यत्र न सन्देह संगमासाद्य देहिनाम्।।

अर्थात्–परिग्रही मे निस्सन्देह जरा भी गुण नही होता, और दोष सुमेरु की तरह बडे–बडे होते हैं।

इसके अनुसार परिग्रही मे दोष ही दोष होते हैं, गुण जरा भी नही होता, फिर भी वह समझता यही है, कि जो कुछ हूँ मैं ही हूँ। समस्त गुण मुझ मे ही हैं। ऐसे लोगो का व्यवहार देखकर ही किसी कवि ने कहा है –

यस्यास्ति वित्त स नर कुलीन स पण्डित स श्रुतवान् गुणज्ञ ।
स एव वक्ता स च दर्शनीय सर्वे गुणा काचनमाश्रयन्ति।

अर्थात्–जिनके पास धन है, वह आदमी कुलवान् न होने पर भी कुलीन माना जाता है, बुद्धिहीन होने पर भी बुद्धिमान् माना जाता है, शास्त्रज्ञ न होने पर भी शास्त्रज्ञ माना जाता है, गुणवान् न होने पर भी गुणवान् माना जाता है, वक्ता न होने पर भी वक्ता माना जाता हे और दर्शनीय न होने पर भी दर्शनीय समझा जाता है। इससे सिद्ध होता हे कि सारे गुण धन मे ही समझे जाते हैं।

परिग्रही मे अभिमान भी बहुत होता हे। वह स्वय को बडा सिद्ध करने–स्वय का अधिकार जताने–के लिए दूसरे का अपमान करने मे भी सकोच नही करता।

परिग्रही व्यक्ति से प्राय धर्मकार्य नही हो सकते। जो जितना अधिक परिग्रही है, वह धर्म से उतना ही अधिक दूर हे। वह लोगो को दिखाने

स्वय को धार्मिक सिद्ध करने आदि उद्देश्य से चाहे धर्मकार्य करता हो और उनमे भाग भी लेता हो, परन्तु वस्तुत उसमे पूर्ण धार्मिकता नही हो सकती। वह पाय समस्त धर्मकार्य, सासारिक पदार्थो की प्राप्तिया उनकी रक्षा की कामना से ही करता है, निष्काम होकर नही करता। पहले तो ऐसा व्यक्ति, स्थिरचित्त से धर्माराधन या ईश्वर–भजन कर ही नही सकता। उसका चित्त सदा अस्थिर, चिन्ताग्रस्त एव भयग्रस्त रहता है। इस कारण उससे धर्माराधन या ईश्वर–भजन होना कठिन है। इस पर भी यदि वह ऐसा करता है तो प्राप्त पदार्थो की कुशलक्षेम, अथवा अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिए ही। और यदि कभी उसकी कामना के विपरीत कार्य हुआ, तो उस दशा मे वह धर्माराधन या ईश्वर–भजन करना त्याग ही नही देता, किन्तु धर्म और ईश्वर पर अविश्वास भी करने लगता है। उसका सिद्धान्त क्या होता है, इसके लिए भर्तृहरि कहते है–

जातिर्यातु रसातल गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छता–
च्छील शैलतटात्पतत्वभिजन सन्दह्यता वह्निना।
शौर्य वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु न केवल
येनैकेन विना गुणस्तृणलवप्राय समस्ता इमे।।

अर्थात्–चाहे जाति रसातल को चली जावे, समस्त गुण रसातल से भी नीचे चले जावे, शील पहाड से गिरकर नष्ट हो जावे, और वैरिन शूरता पर शीघ्र ही वज्र आ पडे तो कोई हर्ज नही, हमारा धन नष्ट न हो, हमे तो केवल धन चाहिये। क्योकि, धन के बिना मनुष्य के सारे ही गुण तिनके के समान व्यर्थ हें।

परिग्रह के लिए धर्म और ईश्वर के प्रति विद्रोह भी किया जाता है, और धर्म के स्थान पर अनीश्वरवाद की स्थापना की जाती है। परिग्रह के लिए ही छल–कपट, अन्याय–अत्याचार को धर्म का रूप दिया जाता है। कुगुरु ओर कुदेव को परिग्रह के लिए ही माना जाता है। परिग्रह के लिए ही धर्म की मर्यादा उल्लघन की जाती है और ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार किया जाता है। धर्म और ईश्वर– विरोधी समस्त कार्य परिग्रह के कारण ही होते है।

परिग्रह के लिए ही दुर्व्यसनो का सेवन किया–कराया जाता हे। मासभक्षण मदिरा पान जुआ निन्दा, चुगली आदि सब दुर्व्यसन परिग्रह के कारण ही सेवन किये जाते हैं या कराये जाते हैं।

छल–कपट ओर अन्याय–अत्याचार भी परिग्रह के लिए ही होता हे। परिग्रह के लिए ही विश्वासघात का भयकर पाप किया जाता हे और परिग्रह के लिए ही न्यायाधीश कहलाने वालो द्वारा अन्याय किया जाता हे।

परिग्रह के लिए प्रकृति से भी विरोध किया जाता हे। उसका सोन्दर्य नष्ट किया जाता है। जनता को प्रकृतिदत्त लाभो से वचित रखा जाता हे। जगल काट डाले जाते हे, नदियो का पानी रोक दिया जाता हे या बाट दिया जाता है, तथा भूमि ओर पहाडो को खोद डाला जाता हे। इस प्रकार प्राकृतिक सोन्दर्य और मनुष्य के लिए आवश्यक है वह प्राकृतिक सुविधा भी नष्ट कर दी जाती है, ओर उसके स्थान पर कृत्रिमता का पोषण किया जाता है।

यह नियम है कि जो जिसका ध्यान करता है वह वैसा ही बन जाता है। आत्मा चेतन है और ससार के समस्त पदार्थ जड हें। जब चेतन आत्मा जड पदार्थो का ही ध्यान करता रहेगा, तब उसकी बुद्धि मे भी जडता आना सम्भव है। इसके सिवा जड दृश्य पदार्थो का ध्यान करने से आत्मा दृष्टा को यानी स्वय को भूल जाता है। वह विचार भी नहीं करता कि मैं दृष्टा दृश्य मे कैसे भूल रहा हूँ?

अज्ञान मे पडा हुआ आत्मा सॉसारिक पदार्थो से ममत्व करके उनका सग्रह तो करता है, लेकिन आत्मा को सासारिक पदार्थो से ममत्व करने ओर उनका सग्रह करने का अधिकार हे या नही, यह एक विचारणीय बात है। सासारिक पदार्थ आत्मा के तद्रूप भी नही हैं, वे आत्मा का साथ भी छोड देते हैं—आत्मा के साथ या पास रहते भी नही हैं—फिर आत्मा किसी वस्तु को अधिकारपूर्वक अपनी कैसे कह सकता है? ओर उनका सग्रह क्यो करता हे? वस्तुत आत्मा का सासारिक पदार्थो पर कोई अधिकार नही हे। फिर भी अज्ञान के कारण आत्मा उनका सग्रह करता हे, उनसे ममत्व रखता हे ओर इस प्रकार स्वय की हानि ही करता है।

पापमूल परिग्रह

परिग्रह पाप–बन्ध का कारण हे। यह अन्तिम ओर प्रधान आस्रवद्वार है। प्रथम के चार आस्रवद्वारो का रक्षक एव पोषक हे। प्रथम के चार आस्रवो ।की उत्पत्ति इसी से हे। यह समस्त पापो का कारण हे। भगवती सूत्र के दूसरे शतक मे गोतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा हे, कि इच्छा, मूर्च्छा ओर गृद्धि (अर्थात् परिग्रह) से, क्रोध, मान, माया, लोम का

अविनाभावी सम्बन्ध है। जहॉ इच्छा मूर्च्छा है वहॉ [illegible] भी है। क्रोध मान, माया लोभ, पापानुबन्ध चाकडी है। [illegible] लोभ है वहॉ सभी पाप है, और जहॉ परिग्रह है वहॉ [illegible] हे। इस प्रकार परिग्रह समस्त पापो का केन्द्र है। [illegible] उत्पन्न होते हे। पश्नव्याकरण सूत्र मे भी कहा है कि परिग्रह [illegible] हिसा करते है, झूठ बोलते है, अच्छी वस्तु मे बुरी वस्तु [illegible] तथा परदारहरण करते हैं, क्षुधा, तृषा आदि कष्ट [illegible] को भी ऐसे कष्ट मे डालते हे, कलह करते है दूसरे [illegible] के लिए अपशब्द कहते है दूसरे का अपमान करते है। [illegible] अपमानित होते है सदेव चिन्तित रहते हे, और बहुता [illegible] क्रोध, मान माया लोभ का उत्पादक परिग्रह ही है।

इस प्रकार शास्त्रकारो ने समस्त पापो का कारण परिग्रह [illegible] है। अनुभव से भी यह स्पष्ट है कि ससार मे जितने भी पाप है [illegible] के ही कारण हे और परिग्रह के लिए ही किये जाते है। [illegible] न होगा, जो परिग्रह के कारण न किया गया हो। लोग इच्छा [illegible] वश होकर ही प्रत्येक पाप करते है। जिसमे या जहॉ इच्छा मूर्च्छा [illegible] उसमे या वहॉ किसी भी प्रकार का पाप नही है।

ससार मे जितनी भी हिसा होती है, वह परिग्रह के लिए है। [illegible] के वास्ते ही लोग हिसा करते है। शब्द रूप रस गध और स्पर्श [illegible] राज्य, धन और स्त्री के लिए ही युद्ध हुए है, और होते है। राम और [illegible] का युद्ध परिग्रह के लिए ही हुआ था। परिग्रह के लिए ही मणिरथ [illegible] भाई युगबाहु को मार डाला था। परिग्रह के लिए ही ओरगजेब [illegible] भाइयो की हत्या की थी। कोणिक और चेडा का शास्त्रप्रसिद्ध युद्ध भी परिग्रह के लिए ही हुआ था। इसी प्रकार ओर भी सेकडो हजारो उदाहरण ऐसे है जिनसे यह सिद्ध हे कि परिग्रह के लिए ही मनुष्य मनुष्य की हत्या करता है ओर अपने पुत्र, पिता, भाई, माता, मामा, स्त्री, पति आदि को मृत्यु के हवाले कर देता हे। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व यूरोप मे जो युद्ध हुआ था ओर जिसमे लाखो–करोडो मनुष्य मौत के घाट उतरे थे, वह भी परिग्रह के लिए ही हुआ था। मनुष्यो की हत्या करने मे सैनिको को किसी प्रकार का सकोच न हो इसी विचार से राजा लोग सेनिको को वास्तविक धर्म–शिक्षा से वचित रखते हैं और यह शिक्षा देते, दिलाते हैं कि युद्ध करके मनुष्यो को मारना ही धर्म है। यह सब परिग्रह के लिए ही किया जाता है। परिग्रह के लिए ही सेनिक

लोग राजाओ की मनुष्यो को मारने जैसी–वीभत्स आज्ञा का पालन करना अपना पवित्र कर्तव्य समझते हैं। परिग्रह के लिए ही युद्ध जैसे महान् पाप को धर्म का रूप दिया जाता है।

यह तो उस हिसा की बात हुई, जिसका करना 'वीरता' माना जाता है। जो समाज मे घृणा की दृष्टि से नही देखी जाती और समाज भी जिसकी निन्दा नही करता किन्तु उस हिसा के करने वाले विजयी पुरुष को 'वीर' उपाधि से विभूषित करता है। अब उस हिसा की बात करते हैं जो राज्य द्वारा अपराध मानी जाती है और समाज मे भी निन्दित समझी जाती है। चोर–डाकू पारदारिक आदि लोग भी परिग्रह के लिये ही जन–हिसा करते हैं। परिग्रह के लिये ही मनुष्य अपनी ही तरह के मनुष्य को बात की बात मे कत्ल कर डालता है, किसी भी प्रकार का सकोच नही करता। अधिक कहॉ तक कहा जावे, ससार मे जिनको स्वजन कहा जाता है, परिग्रह के लिये उनकी भी हत्या कर दी जाती है और आत्म–हत्या का घोर पाप भी परिग्रह के लिये ही किया जाता है।

परिग्रह के लिये स्वय के शरीर से भी द्रोह किया जाता है। जो व्यवहार शरीर के लिये असह्य है, जिस व्यवहार से शरीर की क्षति होती है परिग्रह के लिए शरीर के प्रति भी वही व्यवहार किया जाता है और जिस व्यवहार से शरीर सुखी रहता है, पुष्ट तथा सशक्त रहता है आयु की वृद्धि होती है, उस व्यवहार से शरीर को वचित रक्खा जाता है। जैसे अधिक गरिष्ठ और प्रकृति–विरुद्ध भोजन, मैथुन, आदि कार्य तथा नशा शरीर के लिए हानिप्रद है, लेकिन परिग्रह के लिए ऐसे हानिप्रद कार्य भी किये जाते हैं और सत्य तथा सादा भोजन, सीमित श्रम आदि शरीर के लिए लाभप्रद हैं, फिर भी इनसे शरीर को वचित रखा जाता है। अर्थात् मिथ्या आहार–विहार द्वारा शरीर के साथ द्रोह किया जाता है, और वह परिग्रह के लिए ही।

शरीर से आगे चलिए। जन्म देनेवाले माता–पिता, प्रिय माने जाने वाले भाई बहन मित्र, सम्बन्धी, स्त्री पुत्र आदि परिजन के विषय मे विचार करने पर मालूम होगा, कि परिग्रह के लिए इन सबसे अथवा इनमे से प्रत्येक के साथ द्रोह किया जाता है। मनुष्य पर माता–पिता के अनन्त उपकार हैं, परन्तु परिग्रह के लिए उनका भी अपकार किया जाता हे। इस बात को सिद्ध करने के लिए बहुत उदाहरण दिये जा सकते हैं लेकिन थोडे ही उदाहरणो से काम चल सकता हे इसलिए कस, कोणिक ओर औरगजेब के उदाहरण देना ही पर्याप्त है। कस ने अपने पिता उग्रसेन को परिग्रह के लिए ही

कारागार मे डाल दिया था। कोणिक ने परिग्रह [illegible]
को पीजरे मे बन्द कर दिया था। और परिग्रह के [illegible]
बूढ़े बाप शाहजहाँ को आगरे के किले मे बन्द [illegible]
इसी प्रकार अनेक नर–पिशाचो ने परिग्रह के लि[illegible]
भी हत्या कर डाली है, उसे भी कष्ट दिया है। [illegible]
सेनापति ने अपनी माता को भी मौत के घाट [illegible]

परिग्रह के लिए माता–पिता द्वारा सन्तान [illegible]
उदाहरण भी बहुत मिलेगे। परिग्रह के लिए ही [illegible]
जाता है और एक को शुभ तथा दूसरे को अशुभ [illegible]
लिए ही सन्तान को दूसरे के हाथो बेच दिया जाता है [illegible]
की चिन्ता नही की जाती। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की माता [illegible]
अपने पुत्र ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को लाक्षागृह मे जला [illegible]

परिग्रह के लिए भाई से द्रोह करने के [illegible]
कौरव–पाण्डव भाई–भाई ही थे, लेकिन परिग्रह के लिए [illegible]
औरगजेब ने अपने भाई दारा, शूजा और मुराद को [illegible]
डाला था और परिग्रह के लिए ही भरत चक्रवर्ती [illegible]
स्वाधीनता छीनने का प्रयत्न किया था।

परिग्रह के लिये बहन का भाई द्वारा, और भाई [illegible]
किये जाने के उदाहरण भी बहुत है। इसी प्रकार [illegible]
होता है। परिग्रह के लिये ही पति द्वारा पत्नी का और [illegible]
द्रोह किया जाता है। सूरिकान्ता रानी ने अपने पति [illegible]
परिग्रह के लिये ही की थी। आज भी ऐसे बहुत उदाहरण [illegible]
आते है।

समाज का द्रोह भी परिग्रह के लिये ही किया जाता है। [illegible]
लिये ही ऐसे काम किये जाते है जिनसे समाज का अहित होता है। [illegible]
के कारण जाति और देश से भी द्रोह किया जाता है। आज तक [illegible]
देशद्रोही हुए है, उन सब ने परिग्रह के लिये ही देशद्रोह किया था। [illegible]
लोग देशद्रोह करते है वे परिग्रह के लिये ही। परिग्रह के लिये [illegible]
किये जाते है, जिनसे देश का अहित होता है।

राजा प्रजा का रक्षक माना जाता है, लेकिन परिग्रह [illegible]
प्रजाद्रोही बन जाता है। परिग्रह के लिये ही वह ऐसा [illegible]
बनाता है ऐसे–ऐसे कर लगाता है, जो प्रजा को [illegible]

तात्पर्य यह कि ससार मे जितनी भी जनहिसा होती है, वह परिग्रह के लिए ही। इच्छा–मूर्च्छा से प्रभावित व्यक्ति को जनहिसा करने मे, धर्म–अधर्म या पाप–पुण्य का विचार नहीं होता, न यही विचार होता है कि ये मेरे सम्बन्धी अथवा मित्र हैं, मैं इनकी हिसा कैसे करूँ?

यह जन–हिसा की बात हुई। अब पशु–पक्षी आदि की हिसा पर विचार किया जाता है। पशु–पक्षियो की हिसा भी परिग्रह के लिए ही होती है। दीन–मूक और किसी की कोई हानि न करने वाले पशु, पक्षियो को भी मनुष्य इच्छा–मूर्च्छा की प्रेरणा से ही मारता हे। शिकार द्वारा, कत्लखानो, अथवा अन्य प्रकार से पशु–पक्षियो की जो हिसा होती है, वह सब परिग्रह के लिए ही। चर्म, रक्त, केश, दात, चर्बी, मास अथवा अन्य किसी अवयव के लिए ही पशु या पक्षियो को मारा जाता है। यदि इनमे से किसी की चाह न हो, तो पशु–पक्षियो को मारने का कोई कारण ही नही है जो कोई भी पशु–पक्षियो की हिसा करता है, वह या तो उस पशु–पक्षी के अगोपाग दूसरे को बेच कर बदले मे और कुछ लेता है, अथवा स्वय ही उनको उपयोग मे लेता है। दोनो मे से किसी भी कारण से हो, फिर भी यह तो स्पष्ट है कि परिग्रह के लिए ही पशुओ और पक्षियो की हिसा की जाती है और परिग्रह के लिए ही दूसरे जीवो की भी हिसा की जाती है। बन्ध, वध आदि हिसा के अग रूप पाप भी परिग्रह के लिए ही होते हैं।

इस प्रकार परिग्रह के लिए ही हिसा का पाप होता है। छोटे या बडे किसी भी जीव की हिसा ऐसी न होगी, जो परिग्रह के लिए न की गई हो। आरम्भादि द्वारा होने वाली हिसा भी परिग्रह के लिए ही होती हे, और महारम्भ द्वारा होने वाली हिसा तो विशेषत परिग्रह के लिये ही होती है। मिलो और कारखानो से जो काम होता है, वह काम इनके बिना भी हो सकता था ओर उस दशा मे अनेको को रोटी भी मिल सकती, परन्तु बढी हुई इच्छा–मूर्च्छा वाले लोग, मिल और कारखाने स्थापित करके उन कामो को करते हैं जिनसे बहुतो को होने वाला लाभ एक या कुछ व्यक्ति को ही हो। यद्यपि ऐसा करने से जनता मे कगाली, बेरोजगारी फेलती है, गरीबी पनपती हे, सार्वजनिक कला नष्ट होती है ओर महारम्भ होता हे, लेकिन परिग्रह के लिए इन सब बातो की अपेक्षा नही की जाती।

अब झूठ के विषय मे विचार करते हें। झूठ का पाप भी परिग्रह के लिए ही किया जाता हे। चाहे सूक्ष्म झूठ हो या स्थूल, उसका उपयोग परिग्रह के लिए ही होता है। परिग्रह के लिए ही शास्त्रो का पाठ ओर अर्थ बदला

अपरिग्रह व्रत

परिग्रह से निवर्तने के लिए जो व्रत स्वीकार किया जाता है उसका नाम 'अपरिग्रह व्रत' हे। इस व्रत को स्वीकार करने से इहलोकिक लाभ भी है और पारलौकिक लाभ भी। इस व्रत को स्वीकार करने पर आत्मा समस्त पापो से निवृत्त हो जाता है। वह राग–द्वेष रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार जन्म–मरण के कष्ट से छूट जाता है। जन्म–मरण का मूल हेतु राग–द्वेष ही है। अपरिग्रही होने पर राग–द्वेष मिट जाता है, इसलिए फिर जन्म–मरण नही करना पडता। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने पर, अनन्तानुबन्धी चौकडी, अप्रत्याख्यानी चोकडी और प्रत्याख्यानी चोकडी का निरोध हो जाता है, इससे जन्म–मरण और नरकादि के दु ख से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। परिग्रह के कारण आत्मा जन्म–मरण के जिस बन्धन मे है परतन्त्रता की जिस जजीर से जकडा हुआ है, अपरिग्रहव्रत स्वीकार कर लेने पर उस बन्धन और परतन्त्रता से भी छूट जाता है। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने पर ही पूर्णतया धर्माराधन हो सकता हे और तभी कामनारहित तथा शुद्ध रीति से परमात्मा का भजन भी किया जा सकता हे।

परिग्रह से सर्वथा विरत होने के लिए पहले आभ्यन्तर परिग्रह से विरत होने की आवश्यकता हे। जब तक आभ्यन्तर परिग्रह हे, तब तक बाह्य परिग्रह से विरत होने का विचार तक नही हो सकता। बल्कि आभ्यन्तर परिग्रह का आधिक्य होने पर मनुष्य किसी वस्तु, बात या विचार को परिग्रह रूप मान ही नही सकता जिसकी गणना परिग्रह मे हे। 'यह परिग्रह हे' ऐसा विचार तभी हो सकता है जब आभ्यन्तर परिग्रह का जोर कम हुआ होगा। इसलिए सर्वप्रथम आभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्त होने की आवश्यकता हे। आभ्यन्तर परिग्रह से आत्मा जितने अश मे निवृत्त होता जाएगा उतने ही अशो मे वाह्य परिग्रह से भी। ओर जब आभ्यन्तर परिग्रह से बिल्कुल विरत हो जावेगा, तब बाह्य परिग्रह भी न रहेगा।

निर्ग्रन्थ–प्रवचन सुनने का लाभ परिग्रह का त्याग और अपरिग्रह व्रत का स्वीकार ही है। जिसके स्वीकार किये बिना निर्ग्रन्थ–पवचन का पालन नही हो सकता। ओर जब तक निर्ग्रन्थ प्रवचन का पूर्णतया पालन नही किया जाता तब तक जन्म–मरण से नही छूटा जा सकता। इस दृष्टि से भी परिग्रह का त्याग कर अपरिग्रह व्रत स्वीकार करना आवश्यक है।

शास्त्र का कथन है कि जब तक इन्द्रिय–भोग के पदार्थ न छूटे तब तक जन्म–मरण भी नही छूट सकता। इन्द्रिय–भोग के पदार्थो के प्रति जब तक किचित् भी ममत्व है, तब तक जन्म–मरण भी है, और जिन्हे इन्दियॉ प्रिय मानती हैं, उन पदार्थो का ममत्व ही परिग्रह है। ससार–चक्र से निकलने की इच्छा रखने वाले के लिए यह आवश्यक है कि इन्द्रिय द्वारा भोग्य पदार्थ रूप परिग्रह का त्याग करके अपरिग्रह व्रत स्वीकार करे।

इस प्रकार अपरिग्रह व्रत को स्वीकार तथा उसका पालन करने से पारलौकिक लाभ जन्म–मरण से छूटना और मोक्ष प्राप्त करना है। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने पर जन्म–मरण का भय भी छूट जाता है और किसी प्रकार का कष्ट भी नही रहता है।

इस व्रत को स्वीकार करने से इहलौकिक लाभ भी बहुत हैं। जो इस व्रत को स्वीकार करता है उसकी ओर से ससार के समस्त प्राणी निर्भय हो जाते हैं और व्रत स्वकार करने वाला भी सब तरह से निर्भय हो जाता है। फिर उसको किसी भी ओर से किसी भी प्रकार का भय नही रहता। उसको न तो राज–भय रहता है, न चोर–भय रहता है, न अग्नि, रोग आदि किसी अन्य प्रकार का ही भय रहता है। उसके प्रति ससार के समस्त जीव विश्वास करते है और वह भी सब का विश्वास करता है तथा सब जीवो के प्रति समदृष्टि रखता है एव सभी को अपना मित्र मानता है। उसके हृदय मे शत्रु और मित्र का भेद नही रह जाता। लोगो मे वह आदर का पात्र माना जाता है। उसके समीप किसी प्रकार की चिन्ता तो रहती ही नही है।

ससार का ऐसा कोई पदार्थ नही है जो कभी न छूटे। छोडने की इच्छा न रहने पर भी, ससार के पदार्थ तो छूटते ही हैं। लेकिन यदि ससार के पदार्थो को इच्छा–पूर्वक छोडा जाएगा तो दु ख भी न होगा तथा प्रशसा भी होगी। और इच्छा–पूर्वक न छोडने पर ससार के पदार्थ छूटेगे तो अवश्य ही परन्तु उस दशा मे हृदय को अत्यन्त खेद होगा तथा लोगो मे निन्दा भी होगी।

सासारिक पदार्थो को स्वय त्यागने से एक लाभ और भी है। भावी सन्तति भी सासारिक पदार्थो का विश्वास न करेगी, किन्तु उन्हे त्याज्य मानेगी। इस प्रकार सासारिक पदार्थो को स्वय ही त्यागने से भावी सन्तान को भी लाभ होगा।

सासारिक पदार्थो से आत्मा का कोई स्थायी सम्बन्ध नही हे और यह छूटने वाले हैं, यह जानकर ही धन्ना, शालिभद्र और भृगु पुरोहित आदि ने अपनी विशाल सम्पत्ति त्याग दी थी। पूर्व के अनेक मुनि–महात्माओ एव महापुरुषो ने ससार के किसी पदार्थ से इसी कारण ममत्व नही किया ओर बडी सम्पत्ति, बडा परिवार तथा विशाल राज्य भी तृणवत् त्याग दिया। वे जानते थे कि हम ध्रुव (आत्मा) की उपेक्षा करके अध्रुव (पदार्थ) लेने जावेगे, तो जो अध्रुव हैं वे तो छूटेगे ही, साथ ही ध्रुव–आत्मा की भी हानि होगी। वे इस बात को समझ चुके थे कि इन्द्रियो को सुखदायक जान पडने वाले सासारिक पदार्थ इन्द्रियो की अपेक्षा तुच्छ हैं। इन्द्रियो मे जो शक्ति है वह सासारिक पदार्थो से बहुत बढकर है। इसलिए इन्द्रियो को सासारिक पदार्थ के भोगोपभोग मे डाल कर उनकी शक्ति का दुरुपयोग करना एव उसे नष्ट करना अनुचित है। और इन्द्रियो से बढकर मन है। इसलिए इन्द्रियो के पीछे मन की शक्ति नष्ट करना भी मूर्खता है। जिन पदार्थो मे इन्द्रियॉ सुख मानती हैं, उन पदार्थो को चाहना और मंन को इन्द्रियानुगामी बनाना हानिप्रद है। इन्द्रिय और मन से बडा आत्मा है। इसलिए इन्द्रिय और मन को आत्मा के अधीन रखकर इनके द्वारा वे ही कार्य करने चाहिये जिनसे आत्मा का हित हो। यह जानने के कारण ही उन्होने पदार्थो से ममत्व नही किया, किन्तु प्राप्त पदार्थो को त्याग कर अपरिग्रह व्रत स्वीकार किया।

परिग्रह मे सुख मानना भी अज्ञान है। जो परिग्रह मे सुख मानता है वह परिग्रह को कदापि नही त्याग सकता। परिग्रह को सर्वथा या आशिक रूप से वही त्याग सकता है, जो उसे दु ख का कारण जानता हे और रानी कमलावती की तरह बन्धन रूप मानता है। भृगु पुरोहित द्वारा त्यक्त धन जब राजा इक्षुकार के यहॉ आ रहा था, तब राजा इक्षुकार की रानी कमलावती ने अपने पति से कहा था कि आप यह क्या कर रहे हें ? आप दूसरे द्वारा त्यागे गये धन को अपनाकर वमन की हुई वस्तु को खाने के समान कार्य क्यो कर रहे हैं? आप यदि यह कहते हो कि ऐसा विचार किया जावे तो फिर धन कहॉ से आवेगा? और यह साज–शृगार तथा ठाट–बाट केसे निभेगा? तो इसके उत्तर मे मे यही कहती हूँ, कि मे इस समस्त साज–शृगार ओर ठाट–बाट को बन्धन रूप ही मानती हूँ।

फिर भी दोनो को समान रूप से अव्रत क्रिया लगने का कारण यही है कि दरिद्री के पास पदार्थ तो नही है, लेकिन उसमे पदार्थो को पाने की लालसा है। इसी कारण दोनो को समान अव्रत की क्रिया लगती हे।

मतलब यह कि अपरिग्रही होने के लिए लालसा मिटाने और सन्तोष करने की आवश्यकता है। लालसा की उत्पत्ति का कारण इन्द्रियो की काम–भोग मे प्रवृत्ति होगी, अथवा ऐसा करना चाहेगे तब ससार के पदार्थो की लालसा भी होगी। मन की चचलता के कारण ही इन्द्रियॉ विषयो की ओर दौडती हैं। यदि मन चचल न हो, स्थिर हो ओर वह इन्द्रियो का साथ न दे, तो इन्द्रियॉ विषयभोग की ओर न दौडे। मन की चचलता के कारण ही इन्द्रियॉ विषय–भोग की ओर दौडती हैं और फिर लालसा होती है। मन की चचलता का कारण, ज्ञान का अभाव है। इन्द्रियॉ कौन हैं? उनका आत्मा से क्या सबध है? और ससार के पदार्थो का रूप कैसा है? आदि बाते न जानने के कारण ही मन मे चचलता रहती है। इसलिए अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने एव उसका पालन करने के लिए, सबसे पहले ससार के पदार्थो का रूप और स्वभाव समझ कर मन को स्थिर करने, इन्द्रियो को बहिर्मुखी एव भोग–लोलुप न होने देने, और सासारिक पदार्थो की ओर से निस्पृह तथा निर्ममत्वी रहने की आवश्यकता है। शरीरादि जो पदार्थ प्राप्त हैं, जिनको त्यागा नही जा सकता, उनकी ओर निर्ममत्वी रहे, और जो पदार्थ अप्राप्त हैं, उनकी ओर से निस्पृह रहे। शरीर की ओर से भी किस प्रकार निर्ममत्वी रहे, इसके लिए उत्तराध्ययन सूत्र के 19 वे अध्ययन मे कहा है –

वासीचदन कप्पो य असणे अणसणे तहा।

अर्थात्–शरीर पर चाहे चदन का लेप किया जावे, अथवा शरीर को वसूले से छीला जावे दोनो अवस्थाओ मे सुख–दु ख न मान कर प्रसन्न ही रहे। और जो ऐसा करता हे, उसके प्रति रागद्वेष भी न आने दे। इसी प्रकार मानापमान मे भी समभाव ही रखे।

इस प्रकार सतुष्ट, निस्पृह ओर निर्ममत्वी रहने पर ही अपरिग्रह व्रत का पालन हो सकता है।

अपरिग्रह व्रत स्वीकार ओर पालन करने वाले, निर्ग्रन्थ कहे जाते हें। निर्ग्रन्थ का अर्थ हे किसी प्रकार की ग्रन्थि–गाठ या बन्धन मे न रहना। परिग्रह बन्धन है। जो इस बन्धन को तोड देता हे वह निर्ग्रन्थ ओर मोक्ष का पथिक हे। मोक्ष प्राप्ति के लिए शास्त्र मे जो पॉच महाव्रत बताए गये हें, उनका पालन

निर्ग्रन्थ ही कर सकता है, और पच महाव्रतो का पालन करने वाला ही निर्ग्रन्थ है। यद्यपि पच महाव्रत मे अपरिग्रह भी एक महाव्रत है लेकिन यह महाव्रत सबसे बडा दुष्कर और प्रथम के चार महाव्रतो से पूर्ण सम्बन्ध रखने वाला है। जो इस महाव्रत का पालन करता है, वही इससे पहले के चार महाव्रतो का पालन कर सकता है और जो प्रथम के चार महाव्रतो का पालन करता है वही इस महाव्रत का भी पालन कर सकता है। पाचो महाव्रत परस्पर अत्यधिक घनिष्ठ सबध रखते हैं। यदि विचार किया जाय तो प्रथम के चार महाव्रतो मे तो भगवान् पार्श्वनाथ के समय तक अपरिग्रह व्रत ही माना जाता था, जिसे भगवान् महावीर ने अलग करके चार महाव्रतो के बदले पाच महाव्रत बताये है।

अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने वाले सब प्रकार की इच्छा भी त्याग देते हैं, और शरीरादि जिन आवश्यक पदार्थो को वे नही त्याग सके हैं, उनके प्रति भी मूर्च्छा नही रखते। इच्छा और मूर्च्छा उनके समीप होती ही नही हैं। वे अपने शरीर अथवा धर्मोपकरण के प्रति भी ममत्वहीन ही रहते हैं। न स्वय के पास ही कोई पदार्थ रखते हैं, न दूसरे के पास ही। यदि रखते हैं तो केवल वे ही धर्मोपकरण रखते हैं, जिन्हे रखने के लिये शास्त्र मे आज्ञा दी गई है। उनके सिवा कोई भी पदार्थ नही रखते।

यहॉ ये प्रश्न होते हैं कि निर्ग्रन्थ साधु धर्मोपकरण तथा शास्त्रादि क्यो रखते है? क्या उनकी गणना परिग्रह मे नही है? इसी प्रकार वस्त्र रखने की भी क्या आवश्यकता है? जब तक वस्त्र हैं तब तक कैसे कहा जा सकता है कि परिग्रह नही है'? और जब परिग्रह है तब निर्ग्रन्थ कैसे हुए, और मोक्ष कैसे जा सकते है? जो निर्ग्रन्थ है उन्हे तो दिगम्बर रहना चाहिये और अपने पास वस्त्र या धर्मोपकरण आदि कुछ भी नही रखने चाहिए।

इन पश्नो का समाधान करने लिए पहले कही हुई इस बात को दुहरा देना आवश्यक है कि पदार्थ का नाम परिग्रह नही किन्तु उन पर ममत्व का नाम ही परिग्रह है। साधु लोग जो वस्त्र, पात्र और धर्मोपकरण रखते हैं, उन्हे वे अपरिग्रह व्रत बताने वाले तीर्थकर भगवान की आज्ञा से ही रखते है उनकी आज्ञा के विरुद्ध नही रखते। भगवान् तीर्थकर ने साधक के लिए जिन वस्तुओ का त्यागना कठिन और रखना आवश्यक समझा उन वस्तुओ के रखने का विधान कर दिया और मर्यादा बना दी कि साधु इतने वस्त्र इतने

पात्र, और अमुक–अमुक धर्मोपकरण ही रख सकता है, जो इससे अधिक लम्बे चौडे या भारी न हो ओर मर्यादानुसार रक्खे गये वस्त्र, पात्र आदि मे भी ममत्व भाव नही रखे। इस प्रकार भगवान् ने जिनके रखने का विधान किया हे, वे ही वस्त्र–पात्रादि रखे जा सकते हैं, दूसरे या अधिक नही रखे जा सकते। यदि कोई उस मर्यादा से अधिक रखता है, अथवा मर्यादानुसार रखकर भी उनसे ममत्व करता हे, तो वह अवश्य ही परिग्रही माना जावेगा। भगवान् त्रिकालदर्शी थे, वे जानते थे कि यदि में इस प्रकार का विधान करूँगा और मर्यादा न बाध दूँगा तो आगे जाकर वहुत अनर्थ होगा तथा अपरिग्रही रहने के नाम पर वह कार्यवाही होगी, जेसी कार्यवाही परिग्रही व्यक्ति ही कर सकता है। इसलिये भगवान् ने कुछ वस्त्र–पात्र रखना सामान्यत आवश्यक बता दिया है और जिन धर्मोपकरण का रखना आवश्यक बताया हे आगे चलकर–उच्च दशा मे–वे भी त्याज्य बताये हैं। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने के पश्चात् भी मर्यादानुसार जिन वस्त्रो का रखना आवश्यक है उच्च दशा मे पहुँचने पर उन सब को भी क्रमश त्यागने का, भगवान् ने विधान किया है।

भगवती सूत्र मे व्युत्सर्ग का वर्णन आया है। व्युत्सर्ग का अर्थ त्याग है। मन, वचन और काय द्वारा बुरे कामो को त्याग देना व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग के बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दो भेद बताये गये हैं। ये दोनो भेद द्रव्य और भाव व्युत्सर्ग के नाम से भी कहे जाते हैं। द्रव्य व्युत्सर्ग के चार भेद हैं, और भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं। द्रव्य व्युत्सर्ग के, शरीरोत्सर्ग, गणोत्सर्ग उपाधि व्युत्सर्ग और भात पानी व्युत्सर्ग ये चार भेद हें। भाव व्युत्सर्ग के, कषाय–व्युत्सर्ग, ससार व्युत्सर्ग, और कर्म व्युत्सर्ग ये तीन भेद हें। मोक्ष तो भाव व्युत्सर्ग से ही होता है, लेकिन भाव व्युत्सर्ग के लिए द्रव्य–व्युत्सर्ग का होना आवश्यक है। द्रव्यव्युत्सर्ग के बिना भाव व्युत्सर्ग तक नही पहुँच सकते। यहाँ व्युत्सर्ग विषयक समस्त बातो का वर्णन आवश्यक नही हे, यहाँ तो केवल यह बताना है कि मुनि के लिए–आगे चलकर–शरीर, गण, (गच्छ या सम्प्रदाय) उपाधि (वस्त्र पात्र धर्मोपकरणादि) और भात पानी, ये सब भी त्याज्य हें। जव तक साधन का प्रारम्भ है, तभी तक इनका रखना आवश्यक हे, और जेस–जेसे आगे बढता जावे, वैसे ये भी त्याज्य हें। आगे चल कर शरीर गच्छ उपाधि ओर भोजन–पानी को भी त्याग दे। इस प्रकार उच्च दशा मे पहुचे हुओ के लिए तो शरीर वस्त्र उपाधि भण्डोपकरण आदि सभी वस्तु त्याज्य हें, – वह

तो जिन कल्पी ही रहता है – लेकिन जब तक ऐसी क्षमता नही है तब तक के लिए भगवान् ने वस्त्र पात्र आदि की मर्यादा बता दी है और उस मर्यादानुसार वस्त्र पात्र आदि रखने का विधान कर दिया है। यदि भगवान इस पकार का विधि–विधान न करते तो आज के साधुआ को केवल कठिनाई ही न होती, किन्तु उनके द्वारा ऐसे कार्य होते, शरीर–रक्षा आदि के लिए वे ऐसे काम करते, जो वस्त्र–पात्रादि रखने के कार्यो से भी बढ कर होते।

भगवान् ने मुनि के लिए मर्यादानुसार वस्त्र रखने का विधान किया है और वे मर्यादानुसार वस्त्र रखते भी है, फिर भी वे नग्न भावी ही हें। क्योकि, उन्हे वस्त्रो से न तो ममत्व ही होता हैं, न वे अधिक वस्त्र ही रखते हैं। इसलिए वस्त्र होने पर भी वे भाव मे नग्न भावी–अर्थात् निर्वस्त्र ही माने जाते हैं। उच्च दशा मे पहुँचने पर वे उन मर्यादित वस्त्रो को भी त्यागने मे पीछे नही रहते है लेकिन इससे पहले ही वस्त्रो को त्याग देना व्यावहारिक दृष्टि से भी उचित नही है। शरीर और गण का व्युत्सर्ग पहले बताया है, और उपाधि का व्युत्सर्ग उसके पश्चात् है। जब शरीर पर बिलकुल ममत्व न रहे, और सम्प्रदाय से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखे, किन्तु असग रहता हो अर्थात् वन मे या गुफाओ मे निवास करता हो, तभी उपाधि का व्युत्सर्ग कर सकता है। शरीर से तो ममत्व हो, शरीर की रक्षा का प्रयत्न तो करता हो, लेकिन गच्छ को छोड बेठे अथवा शरीर से भी ममत्व है और गच्छ मे भी है, चेला–चेलानी अनुयायी आदि बनाते रहते हैं, और वस्त्र–पात्र आदि उपाधि छोड बैठे तो वह वैसा ही कार्य होगा, जैसा कार्य पगडी पहने रहने और धोती त्याग देने का हो सकता है।

तात्पर्य यह कि शास्त्र मे जिनकी आज्ञा दी गई है, उन वस्त्र पात्रादि धर्मोपकरणो को रखने के कारण निर्ग्रन्थ लोग परिग्रही नही कहे जा सकते। निर्ग्रन्थ होने पर भी किसी को कब परिग्रही कहा जा सकता है, और निर्ग्रन्थ भी किस प्रकार परिग्रही हो जाता है, यह बात थोडे मे बताई जाती है।

बहुत से लोग अपरिग्रह व्रत स्वीकार कर और ससार के स्थूल पदार्थो का ममत्व त्याग कर भी, फिर परिग्रह मे पड जाते है। वे स्थूल पदार्थो का ममत्व तो छोड देते हैं। लेकिन उनके हृदय मे मान बडाई आदि की चाह बनी रहती है अथवा बढ जाती है। कहावत ही है –

कचन तजिबो सहज है सहज तिरिया को नेह।
मान बडाई ईर्षा, दुर्लभ तजिबो येह।।

अर्थात्–कनक ओर कामिनी को छोडना कठिन नही है, लेकिन मान बडाई की चाह और ईर्षा को त्यागना बहुत ही कठिन है।

ससार मे कनक (सोना) त्यागना बहुत ही कठिन माना जाता हे। यद्यपि सोना खाने या शीत, ताप, वर्षा से बचाने के काम का पदार्थ नहीं है, न उसमे गन्ध ही है, फिर भी वह बहुत मोहक पदार्थ हे। ओर इसका एकमात्र कारण यही है कि आज विनिमय (लेनदेन या बदला–बदली) सोने के आश्रित हैं। सोना पास हो तो, ससार की सभी वस्तु–चीजे प्राप्त हो सकती हे, तथा सोना ऐसी धातु हे कि चाहे हजारो वर्ष तक पृथ्वी मे दबी रहे तब भी न सडती हैं, न गलती है, न खराब होती हे। यही कारण हे कि लोगो को सोने से बहुत ममत्व होता है तथा सोने का त्याग कठिन माना जाता है। जो सोने का त्याग कर देता है उसने सोने द्वारा प्राप्त होने वाले ससार के सब पदार्थो का त्याग कर दिया है, और जो ससार के किसी भी पदार्थ से ममत्व करता है वह सोने से कदापि ममत्व नहीं त्याग सकता। सासारिक लोग सोने मे विशेषता देखकर ही उससे ममत्व करते हैं, और इसी से सोना मोहक माना जाता है। सोने के पश्चात् स्त्री मोहिनी मानी जाती है। कोई–कोई ऐसे भी होते हैं कि जो सोने से तो ममत्व त्याग देते हें, लेकिन उनसे स्त्री का ममत्व त्यागना बहुत कठिन होता है। कदाचित् कोई सोने और स्त्री से ममत्व त्याग भी दे इनको छोड भी दे, लेकिन तुलसीदासजी के कथनानुसार मान–बडाई तथा ईर्ष्या का छोडना बहुत कठिन होता हे, और जब तक इनका सद्भाव हे, तब तक "परिग्रह छूटा हे" ऐसा नही कहा जा सकता। क्योकि एक तो ममत्व का नाम ही परिग्रह है, दूसरे, जहॉ मान–बडाई की चाह ओर ईर्ष्या हे, वहॉ सभी पाप सम्भव हैं।

अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने वाले कई साधु मान–बडाई की चाह मे पड जाते हें ओर इस कारण दूसरे से ईर्षा करने लग जाते हें। मान–बडाई की चाह से वे लोग ऐसे–ऐसे कार्य कर डालते हें, जिनका वर्णन करना कठिन एव आपत्तिजनक हे। इसलिए इतना ही कहा जाता हे कि अपरिग्रह व्रत का पालन करने के लिए मान–बडाई की चाह को हृदय से निकाल देना आवश्यक हे। यदि इस प्रकार की चाह बनी हुई हे तो फिर अपरिग्रह व्रत भी नहीं हे।

यहॉ आजकल के साधुओ की कुछ समालोचना करना अप्रासगिक न होगा। आजकल के बहुत से साधुअथवा साध्वी ओर तो सब कुछ त्याग

देते हे, लेकिन शिष्य–शिष्या की इच्छा–मूर्च्छा तो उन्हे दबा ही डालती हे। शिष्य–शिष्या की इच्छा–मूर्च्छा की पेरणा से उनके द्वारा ऐसे ऐसे कृत्य भी हो जाते हे कि जेसे कार्य सन्तान की इच्छा–मूर्च्छा वाले गृहस्थ से भी न होते होगे। यद्यपि शिष्य–शिष्या की इच्छा–मूर्च्छा रखने वाले साधु–साध्वी प्रकट मे यह अवश्य कहते हे कि हम धर्म या सम्पदाय की वृद्धि के लिए ऐसा करते हे परन्तु विचार करने पर ज्ञात होगा शिष्य–शिष्या की इच्छा–मूर्च्छा वाले साधु–साध्वी मे ओर सन्तान की मूर्च्छा वाले गृहस्थ स्त्री–पुरुष मे क्या अन्तर रहा? इच्छा–मूर्च्छा की दृष्टि से तो दोनो समान ही ठहरते है, ओर धर्मवृद्धि का कहना तो एक बहाना मात्र हे। हॉ, कोई–कोई महात्मा ऐसे भी हें जो धर्मवृद्धि के लिए ही शिष्य–शिष्या बनाते हे, लेकिन उनमे शिष्य–शिष्या की इच्छा–मूर्च्छा नही होती।

शिष्य–शिष्या की ही तरह कई साधु–साध्वियो के लिए सम्प्रदाय ओर उसकी रूढि–परम्परा भी परिग्रह रूप हो जाती है। यह मेरी सम्प्रदाय या परम्परा हे, इसलिए चाहे यह सम्प्रदाय या परम्परा ठीक न भी हो, तब भी मे इसकी वृद्धि ही करूँगा इसकी रक्षा का ही प्रयत्न करूँगा कही किसी के द्वारा मेरी सम्प्रदाय की कोई क्षति न हो जावे मुझे अपनी रूढि–परम्परा न त्यागना पडे आदि प्रकार की चिन्ता ओर ऐसा भय भी परिग्रह रूप ही हे। इसी पकार विद्या सूत्र ज्ञान आदि भी, कभी–कभी परिग्रह रूप हो जाता है। मे इतने सूत्रो का जानकार हूँ, मे अमुक–अमुक विद्या जानता हूँ आदि अहभाव विद्या ओर सूत्रज्ञान को भी परिग्रह रूप बना देता है।

कुछ साधुओ को समाज के धन की भी चिन्ता रहती हे। मेरे अनुयायियो का धन खर्च होता हे इस विचार से कई साधु चिन्तित रहते हैं ओर अनुयायियो के धन की रक्षा का प्रयत्न करते हे। यह भी एक परिग्रह ही हे यदि इसको परिग्रह न कहा जावेगा तो कुटुम्ब का वृद्ध आदमी अपने कुटुम्ब के द्रव्य की रक्षा की जो चिन्ता करता हे जो प्रयत्न करता हे–वह भी परिग्रह न कहा जायेगा।

कुछ साधुओ को अपनी पसिद्धि की बहुत इच्छा रहती हे। इसके लिए वे स्वय ही अथवा अनधिकारियो या अनुयायियो द्वारा कोई उपाधि प्राप्त करके अपने नाम के साथ उपाधि लगा लेते हे। लेख ओर पुस्तक दूसरो से लिखवा कर अपने नाम से प्रकाशित करवाते हे सामाजिक कार्यो मे

लेते हैं, अथवा ऐसे ही अन्य कार्य भी करते हैं। लकिन वस्तुत प्रसिद्धि की इच्छा भी परिग्रह के अन्तर्गत ही हे। जव तक इस प्रकार का भी परिग्रह हे तव तक अपरिग्रह व्रत का पूर्णतया पालन हो ही नही सकता। अपरिग्रह व्रत का पालन तो तभी हो सकता हे जव हृदय में किसी भी प्रकार की चाह न रहे, किसी भी वस्तु से ममत्व न हो किसी भी प्रकार की चिन्ता न हा न किसी भी तरह का भय ही रहे, किन्तु निस्पृह निर्ममत्वी होन क साथ ही चिन्ता आर भय से रहित रहे। साथ ही भगवान की आज्ञा से जा वस्त्र पात्र एव उपाधि रखता हे, जिस सम्प्रदाय (गच्छ) मे रहकर धर्म–साधन करता हे, ओर जिस शरीर मे आत्मा वस रहा हे, उसके लिए भी यह भावना करता रहे कि मैं इन सब से भी ममत्व न रखूँगा, तथा वह दिन कव होगा जव मैं जीवन क लिए आवश्यक माना जाने वाला अन्न, पानी भी त्याग दूँगा ओर जीवनमुक्त हा जाऊँगा। ओर जो इस प्रकार रहता हे वही अपरिग्रह व्रत का पालन करने वाला हे। इस व्रत को जिसने स्वीकार किया हे उसके हृदय म सयोग–वियाग का सुख–दु ख तो होना ही न चाहिए, न स्वर्गादि के सुखो की अभिलाषा ही होना चाहिए।

इच्छापरिमाण व्रत

परिग्रह का स्वरूप और उससे होने वाली हानि का वर्णन किया जा चुका है। साथ ही अपरिग्रह व्रत का स्वरूप भी बताया जा चुका है। यद्यपि आत्मकल्याण की इच्छा रखने वाले के लिए तो अपरिग्रही बनना और किसी भी सांसारिक पदार्थ के प्रति इच्छा मूर्छा न रखना ही आवश्यक है, लेकिन जो लोग संसार-व्यवहार में बैठे हुए हैं वे भी क्रमशः मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकें इसलिए भगवान् ने ऐसे लोगों के वास्ते इच्छा-परिमाण-व्रत बताया है। संसार-व्यवहार में रहने वाले लोगों के लिए सांसारिक पदार्थों का सर्वथा त्याग होना कठिन है। उनमें इच्छा और मूर्छा का बिल्कुल अभाव नहीं हो सकता, न वे सांसारिक पदार्थों से अलग ही रह सकते हैं। संसार-व्यवहार में रहने के कारण उनके लिए सांसारिक पदार्थों का संग्रह और सांसारिक पदार्थों के प्रति इच्छा मूर्छा का होना भी स्वाभाविक समझा जाता है। संसार में कहावत भी है कि साधु के पास कौड़ी हो तो साधु कौड़ी का, गृहस्थ के पास कौड़ी न हो तो वह गृहस्थ कौड़ी का। एक कवि भी कहता है —

माता निन्दति नाभिनन्दति पिता भ्राता न संभाषते।
भृत्य कुप्यति नानुगच्छति सुत कान्ता च नालिगते।।
अर्थप्रार्थन शङ्कया न कुरुते ऽप्यालाप मात्र सुहृत।
तस्मादर्थ मुपार्जयस्व च सखे ! ह्यर्थस्य सर्वे वशाः।।

अर्थात्—धन न होने पर माता निन्दा करती है [illegible]

इस प्रकार जैस ससार–व्यवहार स निकले हुए साधु के लिए किसी भी सासारिक पदार्थ का रखना निन्द्य समझा जाता है, उसी प्रकार सासारिक लोग उस ससार–व्यवहार मे रहे हुए की निन्दा–अवहेलना करत हे जो सासारिक पदार्थो से हीन हे। जो ससार–व्यवहार मे है, उसके लिए सासारिक पदार्थो का सग्रह आवश्यक माना जाता हे ओर दूसरी आर धर्मशास्त्र सासारिक पदार्थो को त्याज्य वतलाते हे। ऐसी दशा मे गृहस्थो के लिए ऐसा कोन–सा मार्ग रह जाता हे, जिसको अपनाने पर व ससार–व्यवहार म हीन दृष्टि से भी न देखे जावे ओर धार्मिक दृष्टि से भी पतित न समझे जाव? इस बात को दृष्टि मे रखकर ही भगवान ने इच्छा–परिमाण व्रत बताया हे। भगवान् जानते थे कि गृहस्थ लोग इच्छा का सर्वथा त्याग नही कर सकते और जिस दिन वे इच्छा का सर्वथा त्याग कर देगे उस दिन से ससार–व्यवहार मे रहना भी त्याग देगे या सथारा कर लेगे। लेकिन ससार–व्यवहार मे रहते हुए इच्छा का सर्वथा निरोध कठिन हे। ऐसी दशा मे यदि उन्हे भी अपरिग्रह व्रत ही बताया जावेगा, तो उनसे अपरिग्रह व्रत का पालन भी न होगा ओर दूसरी ओर उनके द्वारा अनेक अनर्थ भी होगे तथा उन्हे कठिनाई भी उठानी होगी। इसलिए जब तक उनमे ससार–व्यवहार से सर्वथा निकलने की क्षमता न हो उनमे पूर्ण सन्तोष ओर पूर्ण धेर्य न हो तब तक उन्हे अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने को कहना उन पर ऐसा बोझ डालना है जिसे व उठा नही सकते। इस प्रकार के विचारो से भगवान ने गृहस्थो के लिए इच्छापरिमाण व्रत बताया है।

इच्छा–परिमाण–व्रत का अर्थ हे सासारिक पदार्थो से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा को सीमित करना। यह निश्चय करना कि मे इतने पदार्थो रो अधिक की इच्छा नही करूँगा। इस प्रकार की जो प्रतिज्ञा की जाती हे उसका नाम इच्छा परिमाण व्रत हे। अपरिग्रह व्रत को स्वीकार करन के लिए ससार के समस्त पदार्थो से विरमण करना होता हे सरार के समरत पदार्थ त्यागने होते है अपरिग्रही होना होता हे लेकिन इच्छा–परिमाण–व्रत स्वीकार करने के लिए ससार के समस्त पदार्थ नही त्यागने पडते। हॉ वे पदार्थ ता अवश्य त्यागने होते हे जिनकी गणना महान परिग्रह मे हे। इच्छा–परिगाण व्रत स्वीकार करने वाले को इस बात की प्रतिज्ञा करनी पडती हे कि मे इन पदार्थो से अधिक पदार्थ अपने अधिकार मे न रक्खूँगा ओर इन पदार्थो क रिवा किसी पदार्थ की इच्छा भी न करूँगा। इस प्रकार आशिक रूप रा परिग्रह का विरमण करक महान परिग्रही न होने क लिए जा प्रतिज्ञा की जाती

है उसका नाम इच्छा-परिमाण--व्रत है। इस व्रत को स्वीकार करने के लिए पदार्थों की मर्यादा की जाती है। कुछ पदार्थों के सिवा शेष पदार्थों की ओर से अपनी इच्छा को रोक लेना ही इच्छा--परिमाण व्रत है।

अब देखना है कि इस व्रत को स्वीकार करने वाला किन-किन पदार्थों के विषय मे मर्यादा करता है। इसके लिए शास्त्रकारो ने परिग्रह के दो भेद कर दिये है सचित्त परिग्रह और अचित्त परिग्रह। सचित्त परिग्रह उस सासारिक पदार्थ या पदार्थों का नाम है जिसके भीतर जान है। जेसे मनुष्य पशु पक्षी पृथ्वी वनस्पति आदि। इसमे कुटुम्ब के लोग दास दासी हाथी घोडे गाय बेल भैस आदि पशु, कीर मोर चकोर आदि पक्षी किसी और पकार के जीव भूमि नदी तालाब, वृक्ष अन्न आदि वे सभी पकार की वस्तुएँ आ जाती है जिन मे जीव है। जो पदार्थ इस भेद मे आने से शेष रह जाते है यानी जो जानदार नही है उनकी गणना अचित्त परिग्रह मे है। सोना चॉदी वस्त्र पात्र ओषध भेषज घर हाट नोहरा, बरतन आदि समस्त पदार्थ, जो निर्जीव है अचित्त परिग्रह मे है।

ससार मे जितने भी पदार्थ हे वे या तो सचित्त है या अचित्त है। इन दोनो भेदो मे सभी पदार्थ आ जाते हैं। इसलिए इच्छा–परिमाण–व्रत स्वीकार करने वाला ससार के समस्त पदार्थो के विषय मे यह नियम करता हे कि मै अमुक पदार्थ इस परिमाण से अधिक अपने अधिकार मे न रक्खूँगा अथवा अमुक पदार्थ अपने अधिकार मे रक्खूँगा ही नही और इस परिमाण से अधिक की इच्छा भी न करूँगा।

जन–साधारण की सुविधा के लिए शास्त्रकारो ने सचित्त ओर अचित्त परिग्रह को नव भागो मे विभक्त कर दिया हे। वे नव भेद नव प्रकार का परिग्रह नाम से विख्यात हे। उनके नाम ये है – (1) क्षेत्र (खेत आदि भूमि) (2) वास्तु (निवास योग्य स्थान) (3) हिरण (चॉदी) (4) सुवर्ण (सोना) (5) धन (सोने–चादी के ढले हुए सिक्के अथवा घी–गुड–शक्कर आदि मूल्यवान पदार्थ) (6) धान्य (गेहूँ, चावल तिल आदि) (7) द्विपद (जिनके दो पॉव हो जेसे मनुष्य ओर पक्षी) (8) चोपद (जिनके चार पॉव हो जेसे हाथी घोडा गाय बेल भैस बकरी आदि) ओर (9) कुप्य (वस्त्र पात्र औषध बासन आदि)। इन नव भेदो मे सचित्त और अचित्त अथवा जड और चेतन अथवा स्थावर और जगम वे सभी पदार्थ आ जाते हे जिनसे मनुष्य का ममत्व होता है अथवा मनुष्य जिनकी इच्छा करता है। क्षेत्र से मतलब उत्पादक खुली भूमि से है। ...

क्षेत्र मे, खेत बाग, पहाड, खदान, चरागाह जगल आदि समस्त भूमि आ जाती हे। यह व्रत स्वीकार करने वाले को क्षत्र के विषय मे मर्यादा करना चाहिए कि मैं इतनी भूमि–खेत, बाग पहाड या गोचरभूमि आदि से अधिक अपने अधिकार मे भी नही रक्खूँगा, न इससे अधिक की इच्छा ही करूँगा।

दूसरा भेद वास्तु हे। वास्तु का अर्थ हे गृह। जमीन के भीतर या ऊपर या भीतर–ऊपर बने हुए तलघर घरो के विषय मे भी परिमाण करना कि मैं इतने गृह–जो इतने से अधिक लम्बे चौडे ओर ऊँचे न होगे तथा जिनका मूल्य इतने से अधिक न होगा – इनसे अधिक गृह अपने अधिकार म न रक्खूँगा ओर न अधिक की इच्छा ही करूँगा। धन से मतलब सिक्का ओर अन्य मूल्यवान् वस्तुएँ, मणि, माणिक गुड घी शक्कर आदि हैं। इनके विषय मे भी परिमाण करना कि में ये सब या इनमे अमुक–अमुक वस्तु इतने परिमाण और इतने मूल्य से अधिक की न रक्खूँगा, न इच्छा ही करूँगा। धान्य से मतलब अन्नादि हे, जैसे धान, चावल, गेहूँ, चना तुवर, तिल आदि। इन सब के लिए भी मर्यादा करना कि मैं धान्य मे से अमुक धान्य इतने परिमाण से या इतने मूल्य से अधिक का अपने अधिकार मे न रक्खूँगा न इतने से अधिक की इच्छा ही करूँगा। हिरण्य से मतलब चाँदी हे। चाँदी के विषय मे भी यह परिमाण करना कि मैं चाँदी अथवा चाँदी की वस्तुएँ इतने परिमाण से अधिक न रक्खूँगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा। इसी प्रकार सोने के विषय मे भी परिमाण करना कि इस परिमाण से अधिक सोना या सोने से बनी हुई वस्तुएँ न रखूँगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा।

इन सब की ही तरह द्विपद की भी मर्यादा करना। द्विपद मे अपनी स्त्री, अपने पुत्र ओर अन्य सम्बन्धी भी आ जाते हें तथा दास, दासी नोकर, चाकर आदि भी आ जाते हे। साथ ही मयूर हस कीर, मोर, चकोर आदि पक्षी भी आ जाते हें। मतलब यह कि जिनके दो पॉव हे, उन मनुष्यो अथवा पक्षियो के विषय मे भी यह मर्यादा करना कि मैं इतने से अधिक न रखूँगा न अधिक की इच्छा ही करूँगा। इसी प्रकार चतुष्पद के लिए भी परिमाण करना। चतुष्पद से मतलब उन जीवो से हे जिनके चार पाव होत हें ओर जो पशु कहलाते हें। पशुओ के विषय मे भी यह मर्यादा करना कि इतने हाथी, घोडे ऊट गाय बेल, भेंस खच्चर गधे भेड बकरी हरिण सिह आदि स अधिक न तो रखूगा ओर न अधिक की इच्छा ही करूगा।

इन आठ भदो मे आने से जो पदार्थ शष रह जात हें उनकी गणना कुप्य म हे। जिनकी इच्छा होती हे या हो सकती हे ओर जो गृहस्थी मे काम

आते है या आ सकते है उन सब पदार्थो का भी परिमाण करना, कुप्य का अर्थ साधारणतया गृहस्थी का फैलाव (घर–बाखरा अर्थात घर मे जो छोटी–बडी चीजे होती है) किया जाता है। इसलिए इसका भी परिमाण करना कि मै इतने से अधिक का बाखरा न रखूँगा न इतने से अधिक की इच्छा ही करूगा।

इस पकार समस्त वस्तुओ के विषय मे यह मर्यादा करना, कि मै इतने परिमाण से अधिक कोई वस्तु न तो अपने अधिकार मे रखूँगा ही न इतने से अधिक की इच्छा ही करूँगा, इच्छा–परिमाण या परिग्रह–परिमाण व्रत कहलाता है। जो परिग्रह से सर्वथा निवृत्त नही हो सकते, उन गृहस्थो को यह व्रत तो स्वीकार करना ही चाहिए। इस व्रत को स्वीकार करने से उनके गृहस्थ–जीवन मे किसी प्रकार की कठिनाई भी नही आती और अनन्त इच्छा भी नही रहती। इस व्रत को स्वीकार करने वाला, महा परिग्रही नही कहलाता, किन्तु अल्प परिग्रही कहलाता है। इस कारण यह व्रत स्वीकार करने वाले की गणना धार्मिक लोगो मे होती है। वह व्यक्ति धर्मात्मा बन जाता है। ऐसा व्यक्ति महान् पाप से बच कर मोक्ष–मार्ग का पथिक होता है।

यो तो परिग्रह से सर्वथा मुक्त होना ही श्रेयस्कर है। भगवान् महावीर का उपदेश भी यही है, लेकिन जो लोग परिग्रह का सर्वथा त्याग नही कर सकते फिर भी भगवान् के उपदेश पर विश्वास रख कर कुछ भी त्याग करते है उनको भी लाभ ही होता है।

जहॉ तक हो सके वहॉ तक तो भगवान् महावीर के उपदेशानुसार समस्त पदार्थो को त्याग कर अपरिग्रही होना ही अच्छा है। आत्मा का पूर्ण कल्याण तो इसी मे है। फिर भी यदि परिग्रह को सर्वथा नही त्याग सकते, तो महापरिग्रही तो मत रहो। महा परिग्रह तो त्याग दो । ऐसा करने वाला साधु नही तो श्रावक तो होगा ही और मोक्ष का पथिक भी कहलावेगा। सासारिक–पदार्थ रूपी टुकडो से जितना भी ममत्व है प्रत्येक दृष्टि से उतनी ही हानि है। सासारिक पदार्थ मोक्ष के अनन्त सुख से तो वचित रखते ही है साथ ही उनके कारण इस लोक मे भी अनेक पकार की चिन्ता अनेक प्रकार के दुख और सब प्रकार के पाप होते है। इसलिए सासारिक पदार्थो का जितना भी त्याग हो सके त्यागना चाहिए।

इच्छा–परिमाण व्रत [illegible]

चाहे वेसी मर्यादा की जा सकती हे। फिर भी यह व्रत इच्छा का मर्यादित करन का है ओर इच्छा का उद्गम स्थल मन हे इसलिए इस व्रत को एक करण तीन योग से स्वीकार करना ही ठीक हे। इरा पकार दव्य क्षेत्र काल ओर भाव क विषय मे भी मर्यादा करनी चाहिए कि मे दव्य स अमुक-अमुक वरतु क सिवा अधिक इच्छा न करूँगा न इनके सिवा ओर वस्तु अपने अधिकार म ही रखूँगा। क्षेत्र स अमुक क्षेत्र से बाहर की वरतु की इच्छा भी नही करूँगा न अमुक क्षेत्र से बाहर की कोई वस्तु मर्यादा विपरीत ही रखूँगा। काल के विषय मे भी मर्यादा करना कि मे इतने दिन मास वर्ष या जीवन भर इन-इन चीजो से अधिक की न तो इच्छा ही करूँगा न अपने अधिकार म ही रखूँगा। इसी प्रकार भाव की भी मर्यादा करना उचित हे।

जो परिग्रह को दुख तथा बन्धन का कारण मानता हे वही परिगह को त्याग सकता हे। लेकिन जो ऐसा मानता ता हे फिर भी स्वय को सम्पूर्ण परिग्रह त्यागने मे असमर्थ देखता हे वह इच्छा-परिमाण-व्रत स्वीकार करता हे। जो परिग्रह को दु ख तथा बन्धन का कारण मान कर इच्छा-परिमाण-व्रत स्वीकार करता हे वह विस्तीर्ण मर्यादा नही रखता किन्तु राकुचित मर्यादा रखता हे। क्योकि उसका ध्येय परिग्रह को रार्वथा त्यागना होता हे ओर इस ध्येय तक तभी पहुँचा जा सकता हे जबकि ममत्व का अधिक रा अधिक घटाया जाय।

इच्छा-परिमाण-व्रत का उद्देश्य ममत्व का घटाना हे इसलिए मर्यादा अधिक रो अधिक राकुचित रखनी चाहिए। विस्तीर्ण मर्यादा रखना ठीक नही। मर्यादा जितनी राकुचित हागी दु ख ओर रारार-भमण भी उतना ही सकुचित हा जावेगा तथा मर्यादा जितनी विस्तीर्ण हागी दु ख ओर जन्म-मरण भी उतना अधिक रहगा। इसलिए यथाशक्ति मर्यादा का अधिक स अधिक राकुचित रखना चाहिए ओर ऐसा करन के लिए यह ध्यान म रखना चाहिए कि अधिक परिग्रह अधिक दु ख का कारण हे तथा अल्प परिग्रह अल्प दु ख का कारण हे लकिन परिगह हे दु ख का ही कारण ओर इससे जो जितना निवृत्त हाता हे उतना ही वह दु ख-मुक्त हाता हे।

इस व्रत का स्वीकार करन म सासारिक पदार्थो का जितना भी त्याग किया जा सक मर्यादा जितनी की जा सक ओर इच्छा का जितना घटाया जा सक उतना ही अच्छा हे। यह न हा कि सीमा पहल ही बहुत बढा कर

रक्खी जावे। उदाहरण के लिए पास मे सम्पत्ति तो केवल पॉच रुपये ही है, और व्रत मे लाख रुपये की मर्यादा करता है। यद्यपि लाख रुपये से अधिक की इच्छा का त्याग तो अच्छा ही है, फिर भी ऐसा करने से लाख रुपयो की चाह रहती ही है। इसलिए ऐसा करना वर्तमान मे तृष्णा को रोकना नही है। किन्तु यही कहा जा सकता है कि वर्तमान मे तो तृष्णा बढी हुई है। परन्तु तृष्णा को सीमित करने का इच्छुक अवश्य है। इस पकार का व्रत विशेष प्रशसनीय और प्रशस्त नही कहा जा सकता। प्रशसनीय और प्रशस्त तो वही व्रत है जिसमे इच्छा को इतना सीमित किया जावे जिससे अधिक सीमित करने पर गार्हस्थ्य जीवन निभ ही नही सकता।

इस व्रत से यथेष्ट लाभ उठाने के लिए आवश्यक है प्रत्येक पदार्थ की मर्यादा करना और जहॉ तक हो सके मर्यादा की सीमा बहुत सकुचित रखना। हो सके तो जो पदार्थ पास हैं, उनमे से भी कुछ त्याग कर फिर मर्यादा करना चाहिए। ऐसा न हो सके तो जो पदार्थ पास हैं उनसे अधिक की मर्यादा न करना। पास तो बहुत कम है और मर्यादा बहुत अधिक की करे, यह ठीक नही है। इस विषय मे आनन्दादि श्रावक का व्रत स्वीकार करना आदर्श स्वरूप है। आनद श्रावक ने उतनी ही सम्पत्ति की मर्यादा की जितनी उसके पास थी। उससे अधिक की मर्यादा नही की थी।

इच्छा–परिमाण–व्रत स्वीकार करने से इहलौकिक और पारलौकिक अनेक लाभ है। इच्छा या तृष्णा का कभी अन्त नही आता। जैसे आग मे घी डालने से आग और प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार पदार्थो के मिलने से इच्छा और बढती ही जाती है, कम नही होती। इस प्रकार की बढी हुई इच्छा के कारण मनुष्य का जीवन भारभूत एव कष्टप्रद बन जाता हे। ऐसा आदमी न तो शान्ति से खा–पी या सो सकता है न ईश्वर–भजनादि आत्म–कल्याण के कार्य ही कर सकता है। उसको पत्येक समय अपनी बढी हुई इच्छा की पूर्ति की ही चिन्ता रहती है। कोई भी समय ऐसा नही होता कि जब उसे शान्ति मिले। उसके पास कितनी भी सम्पत्ति हो जाय उसको ससार के समस्त पदार्थ मिल जावे तब भी अशान्ति बनी ही रहती है। इच्छा–परिमाण–व्रत

व्रत स्वीकार किया जाता हे। अपरिग्रह व्रत का पालन करन वाला जन्म–मरण से प्राय सर्वथा छूट जाता हे। वह न तो फिर जन्मता ही हे न मरता ही हे ओर न उस किसी प्रकार का कष्ट ही होता हे। यदि उसन अपनी इच्छा का सर्वथा निरोध कर लिया है ओर पूर्वोपार्जित कर्म क्षय कर दिये हें तब तो उसी भव मे मुक्त हो जाता हे, अन्यथा एक या दो भव म मुक्त हो जाता हे। जो परिग्रह का सर्वथा त्याग नही कर सकता, फिर भी यदि उसने किसी अश म परिग्रह का त्याग किया हे ओर इच्छा का कम कर लिया हे तो उतन अश मे वह भी कष्ट से छूट जाता है नीच गति मे जन्म लेन से बच जाता हे तथा मोक्षमार्ग का पथिक हो जाता हे। जिसने परिग्रह का परिमाण कर लिया हे, सासारिक पदार्थो को सर्वथा न त्याग सकने पर भी उनमे लिप्त नही रहता, किन्तु जल मे कमल की तरह अलिप्त रहता हे, वह कभी–कभी तो भाव चारित्र पाकर उसी भव मे मोक्ष प्राप्त कर लेता हे, ओर कभी–कभी सात–आठ भव के अन्तर से मुक्त होता है। उसको अव्रत की क्रिया नही लगती इस कारण वह नरक तिर्यक् गति मे नही जाता।

मोक्ष–प्राप्ति–अप्राप्ति का कारण सासारिक पदार्थो का पास मे होना या न होना नही है, किन्तु ममत्व का होना या न होना ही हे। इसलिए चाहे परिग्रह का सर्वथा त्याग न हो केवल इच्छा–परिमाण–व्रत ही लिया गया हो फिर भी यदि शेष परिग्रह मे जल मे कमल की तरह अलिप्त रहता हे, तो वह उसी भव मे मोक्ष का अधिकारी हो सकता हे। इस के विरुद्ध चाहे अपरिग्रह व्रत स्वीकार भी किया हो, पर इच्छा–मूर्च्छा न मिटी हो तो वह ससार म पुन–पुन जन्म–मरण करता हे ओर नरक–तिर्यच गति म भी जाता हे।

पहले यह बताया जा चुका हे कि इच्छा अनन्त हे, उसका अन्त नही है। जिसमे ऐसी इच्छा विद्यमान हे, उसके परिग्रह का भी अन्त नही हे। ऐसा व्यक्ति महान् परिग्रही है। उसे महान् परिग्रह की ही क्रिया लगती हे। उसके पास परिग्रह सबधी पूर्ण पाप विद्यमान हे। इच्छा–परिमाण–व्रत द्वारा ऐसे महान् परिग्रह से जाता हे। जब इच्छा की सीमा कर दी गई उसका अन्त मालूम हो गया, तब महान् परिग्रह भी नही रहा। फिर तो जितने अश म इच्छा शेष हे, उतने ही अश मे परिग्रह भी शेष रहा हे। ओर शेष अश से परे के परिग्रह से निवृत्त हो जाता हे। इस कारण फिर परिग्रह की पूर्ण क्रिया नही लगती किन्तु जितने अश मे परिग्रह रहा हे उसी की क्रिया लगती हे। इच्छा की सीमा हो जाने पर महान् परिग्रह नही रहता, किन्तु अल्प परिग्रह ही रहता हे।

इच्छा–परिमाण–व्रत स्वीकार करने वाला अप्राप्त वस्तु के लिए चिन्ता नही करता, न इस कारण को ले उसे दु ख ही होता है। भले उसके जानने मे नूतन से नूतन पदार्थ आवे, फिर भी वह उन पदार्थो की इच्छा नही करता उनको पाप्त करने की चेष्टा नही करता, न उनके मिलने पर दु ख ही करता है। यदि व्रत मे रखी हुई मर्यादा के बाहर का कोई पदार्थ उसे बिना इच्छा या श्रम के भी पाप्त होता हो तो उसको भी वह स्वीकार नही करता। इस प्रकार वह किसी वस्तु की इच्छा से दु खी नही रहता, किन्तु इस ओर से सर्वथा दु खरहित हो जाता है। साथ ही यह व्रत स्वीकार करने वाला व्यक्ति त्याग से बचे हुए पदार्थो के प्रति ऐसा ममत्वभाव नही रखता, कि जिससे छूटने पर दु ख हो। वह सासारिक पदार्थो का आधार उसी प्रकार लेता है, जिस पकार पक्षी वृक्ष का सहारा लेता है। वृक्ष का सहारा बन्दर भी लेता है और पक्षी भी लेता है, लेकिन दोनो के सहारा लेने मे अन्तर होता है। वृक्ष पर बैठा होने पर भी पक्षी वृक्ष के सहारे नही रहता, किन्तु अपने पखो के सहारे रहता है परन्तु बन्दर यदि वृक्ष पर बैठा हो तो वह वृक्ष ही उसका आधार है। इस कारण वृक्ष के गिरने पर पक्षी को कष्ट नही हो सकता, वह अपने पखो की सहायता से उड जावेगा लेकिन बन्दर उसी वृक्ष के नीचे दब सकता है।

इच्छा–परिमाण–व्रत स्वीकार करने वाले और न करने वाले मे भी ऐसा ही अन्तर होता है। इच्छा–परिमाण–व्रत स्वीकार करने वाला सासारिक पदार्थो से ऐसा ममत्व नही करता उनका इस पकार सहारा नही लेता, जेसा सहारा बन्दर वृक्ष का लेता है। सासारिक पदार्थो के छूटने पर उसे किंचित् भी दु ख नही होता। वह सासारिक पदार्थो का उपयोग उसी तरह करता है जिस प्रकार पक्षी वृक्ष का उपयोग करता है।

इस व्रत को न अपनाने पर अपाप्त वस्तु के कारण भी दु ख होता है और प्राप्त वस्तु के कारण भी। अप्राप्त वस्तु के लिए मनुष्य सदा तरसता रहता है चिन्तित तथा दु खी रहता है और प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिये चिन्तित एव भयभीत रहता है। इस बात का भय बना ही रहता है कि यह वस्तु मुझ

मे इसे कोई नही ले जा सकता और पुण्य का जोर हटने पर वस्तु मेरे पास नही रह सकती। चाहे मैं लाखो प्रयत्न करूँ या दुखी होऊँ समय आने पर वस्तु चली ही जाती है। फिर मैं चिन्ता या दुख क्यो करूँ?

इच्छा-परिमाण-व्रत स्वीकार करने वाले को मरण के समय भी दुख नहीं होता। इच्छा का परिमाण न करनेवाले महा-परिग्रही को मरण के समय मे भी घोर कष्ट होता है। 'हाय! मेरी प्रिय सम्पत्ति आज छूट रही है' इस दुख के कारण उसके प्राण शान्ति से नहीं निकलते, किन्तु बडे कष्ट से निकलते हैं। जिसने भारत को बुरी तरह लूटा था, वह महमूद गजनवी जब मरने लगा, तब उसने अपनी सारी सम्पत्ति अपने सामने मँगवाई और उस सम्पत्ति को देख-देख कर वह रोने लगा। उसके रोने का वास्तविक कारण क्या था, यह निश्चय-पूर्वक तो नही कहा जा सकता, परन्तु हो सकता है कि वह सम्पत्ति छूटने के दुख से रोया हो। महापरिग्रही को ऐसा दुख होता ही है। उसे मरते समय आर्त्त रौद्र ध्यान आता है, जो दुर्गति का कारण है। इच्छा-परिमाण-व्रत स्वीकार करने वाला, इससे बचा रहता है।

श्रावक के लिए परिग्रह-परिमाण-व्रत स्वीकार करना आवश्यक है। वह जब तक अपनी इच्छा को सीमित नही कर लेता, तब तक निर्ग्रन्थ प्रवचन पर प्रगाढ आन्तरिक रुचि नही ला सकता और महापरिग्रही है। उसमे निर्ग्रन्थ धर्म का लेश भी नही हो सकता। निर्ग्रन्थ धर्म का पात्र बनने के लिए इच्छा-परिमाण व्रत स्वीकार करना आवश्यक है।

इच्छा-परिमाण-व्रत स्वीकार कर लेने पर धर्म-कार्य मे भी मन लगता है। मन मे वैसी चचलता ओर अस्थिरता नही रहती जेसी चचलता ओर अस्थिरता अनन्त इच्छा वाले मे रहती है। जिसने अपनी इच्छा को जितना अधिक सकोच लिया है उसका मन धर्म-कार्य मे उतना ही अधिक लगता है। वह निष्काम भाव से धर्म-कार्य करता है, धर्म-कार्य के बदले मे चाहता कुछ नही है। इसके लिए पूनिया श्रावक की कथा प्रसिद्ध ही है जो केवल बारह आने की पूँजी से व्यापार-व्यवसाय करता था ओर जिसकी सामायिक की प्रशसा स्वय महावीर भगवान ने की थी।

इच्छा का परिमाण करके भी यथाशक्ति उन पदार्थो से निर्ममत्व ही रहना चाहिए जो पदार्थ मर्यादा मे रखे गये है। उनमे वृद्धि न होनी चाहिये। यदि मर्यादा मे रहे हुए पदार्थो मे वृद्धि न की उनसे निर्ममत्व रहे तो पदार्थो का सर्वथा त्याग न कर सकने पर भी वह व्यक्ति एक प्रकार से अपरिग्रही

के समान ही माना जावेगा और उसको बहुत अंश मे लाभ भी वैसा ही होगा। भरत चक्रवर्ती छ खण्ड पृथ्वी के स्वामी थे। लेकिन वे उस राज्य–सम्पदा के प्रति निर्ममत्व रहते थे, इस कारण उन्हे काच–महल मे ही केवलज्ञान हो गया। नेमीराज के पास समस्त राज्य–सम्पदा विद्यमान थी और वे राज्य भी करते थे फिर भी 'राजर्षि' कहे जाते थे। इसका कारण यही था कि वे राज्य मे मूर्छित नही रहते थे। नेमीराज की ही तरह राजा जनक के विषय मे भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि उनके पास शुकदेव जी ज्ञान सीखने के लिए गये। उन्होने जनक के द्वार पर जाकर अपने आने की सूचना जनक के पास भेजी, जिसके उत्तर मे राजा ने उन्हे द्वार पर ही ठहरे रहने का कहलाया। शुकदेवजी तीन दिन तक जनक के द्वार पर ही ठहरे रहे। चौथे दिन जनक ने उन्हे अपने पास बुलाया। राजा जनक के सन्मुख जाकर शुकदेव जी ने देखा कि राजा अच्छे सिहासन पर बैठा है और उस पर चँवर–छत्र ढुल रहे हैं। शुकदेवजी सोचने लगे कि पिता ने मुझे इसके पास क्या ज्ञान सीखने भेजा है ? यह माया मे फँसा हुआ राजा मुझ को क्या ज्ञान देगा? शुकदेवजी इस प्रकार सोच ही रहे थे इतने ही मे राजा के पास खबर आई कि नगर मे आग लग गई है, और नगर जल रहा है। फिर खबर आई कि आग महल तक आ गई है। तीसरी बार खबर आई, कि आग ने महल का द्वार घेर लिया है। राजा जनक इन सब खबरो को सुनकर किंचित् भी नही घबराये किन्तु वैसे ही प्रसन्न बने रहे लेकिन शुकदेव जी चिन्तित हो गये। राजा ने उनसे पूछा कि–नगर या महल मे आग लगने से आपको चिन्ता क्यो हो गई? शुकदेवजी ने उत्तर दिया कि मेरा दण्ड और कमण्डल द्वार पर ही रखा है मुझे उन्ही की चिन्ता है कि कहीं वे जल न जावे। राजा ने उत्तर दिया कि मुझको महल और नगर जलने की भी चिन्ता नही है न दुःख ही है और आपको दण्ड और कमण्डल की ही चिन्ता हो गई। इस अन्तर का क्या कारण है? यही कि मैं राज्य करता हुआ और नगर तथा महल मे रहता हुआ भी इनसे निर्ममत्व रहता हूँ, इनको अपना नही मानता और आप दण्ड कमण्डल को अपना मानते हैं? आपको आपके पिता ने मेरे पास यही ज्ञान लेने के लिए भेजा है कि जिस प्रकार मैं निर्ममत्व रहता हूँ। उसी प्रकार निर्ममत्व रहो। संसार के किसी भी पदार्थ को अपना [illegible] किसी पदार्थ से अपना स्थायी सम्बन्ध [illegible] [illegible]

शास्त्र मे, नेमीराज–विषयक वर्णन भी ऐसा ही हे, नेमीराज को जब ससार की असारता का ज्ञान हो गया था ओर वे विरक्त हो गये थे, उस समय उनकी परीक्षा करने के लिए इन्द्र ने ब्राह्मण का वेश बनाकर उनसे कहा था कि वह देखो, तुम्हारी मिथला नगरी धू धू कर जल रही हे। तब नेमीराज ने उत्तर दिया था –

सुह वसामो जीवामो जेसि मो नत्थि किचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झई किचण।।

अर्थात्–मैं सुख से रहता हूँ ओर सुखपूर्वक ही जीवित हूँ महल ओर मिथिला नगरी से मेरा कोई सम्बन्ध नही हे। मिथिला नगरी के जलने से मेरा कुछ भी नही जलता हे।

तात्पर्य यह कि मर्यादा मे रहे हुए पदार्थो से भी ममत्व न करना, किन्तु निर्ममत्व रहना। उनकी प्राप्ति से प्रसन्न न होना, न उनके वियोग से दु ख करना।

निर्ममत्व रहने के साथ ही कृपण भी न रहना। चाहे कृपण हो या उदार सासारिक पदार्थ निश्चय ही छूटते हैं, लेकिन उस समय मे जैसा दु ख कृपण को होता है वैसा उदार को नही होता।

श्रावक अपने व्रत की मर्यादा मे जो द्रव्य शेष रखता है उसे केवल अपने ही सुख के लिए नही समझता। उसे अपना ही नही मान बेठता। यह नहीं करता कि दूसरे आदमी चाहे उस वस्तु के लिए कष्ट पात रहे ओर श्रावक उस वस्तु को दबाये बैठा रहे। श्रावक अपनी मर्यादा मे जो धन–धान्यादि रखता है, उससे स्वय भी सासारिक कार्य चलाता है और दूसरो की भी सहायता करता है। उसके पास जो धन–धान्य होता हे उसे वह आवश्यकता के समय जनता के हित मे व्यय कर देता है, दुष्कालादि के समय उसके द्वारा लोगो की रक्षा करता है, लोगो की सहायता करता है।

जो धन मर्यादा मे रखा हे उसे पकड कर बेठ जाना व्यावहारिक दृष्टि से भी अनुचित हे। अर्थात् उसे जमीन मे गाड देना या तिजोरी म बन्द करके रख छोडना, ठीक नही। जब सम्पत्ति एक या कई जगह केन्द्रित हाकर रुक जाती हे व्यवहार मे नहीं आती हे तब साधारण जनता का बडी कठिनाई का सामना करना पडता हे। इसलिए यह सम्पत्ति तो हमारी मर्यादा म ही हे ऐसा समझ कर सम्पति का व्यवहार से वचित रखना जनता का कष्ट म डालता हे। भारत मे गेद क खेल की जो प्रथा हे उसरा एक शिक्षा भी मिलती ह। गद होती ता किसी एक व्यक्ति की ही परन्तु उसे खलत अनक आदमी

है। अनेक आदमी मिलकर परस्पर उसका आदान–प्रदान करते है। कोई एक आदमी गेद को लेकर नही बैठ जाता, और यदि कोई ऐसा करे तो उसके साथी गण उसे दड देने तथा उससे गेद छीनने का प्रयत्न करते है। गेद के इस खेल से धन–धान्यादि–सम्पत्ति के विषय मे भी यह शिक्षा मिलती है कि इन सब को अपना ही न मान बैठो, किन्तु जैसे गेद से अनेको को खेलने का लाभ दिया जाता है, उसी तरह सम्पत्ति का लाभ भी सबको दो। फिर चाहे वह सम्पत्ति तुम्हारे ही अधिकार की क्यो न हो? लेकिन उसे पकड कर मत बेठ जाओ। यदि तुम सम्पत्ति को अपनी ही मान कर दबा बैठोगे, तो लोग तुम से वह सम्पत्ति छीनने का प्रयत्न करेगे, तथा तुम्हारे पास न रहने देगे। और यदि गेद की तरह सम्पत्ति का भी आदान–प्रदान करते रहोगे, तो जिस प्रकार फेका हुआ गेद लौट कर फेकनेवाले के ही पास आता है, उसी तरह दूसरे को देते रहने पर–यानी त्यागने पर भी सम्पत्ति लौट–लौट कर त्यागने वाले के पास आयेगी। सम्पत्ति के लिए झगडा भी तभी होता है, जब कोई उसे अपनी मान कर पकड बैठता है। जहॉ किसी वस्तु को अपना नही माना जाता, वहॉ किसी प्रकार का झगडा भी नही होता।

जिस तरह मर्यादा मे रखी हुई प्राप्त वस्तु के प्रति कृपणता अथवा ममत्व न रखना है उसी तरह मर्यादा मे रखी हुई अप्राप्त वस्तु की कामना भी न करना, किन्तु निष्काम रहना। कामना से वस्तु प्राप्त भी नही होती ओर, यदि प्राप्त हुई भी तो उससे आध्यात्मिक तथा मानसिक हानि होती है। वस्तु की कमी वही है जहॉ कामना है। जहॉ कामना नही है वहॉ वस्तु की भी कमी नही है। कामना न होने पर वस्तु छाया की तरह पीछे दौडती है ओर कामना होने पर दूर भागती है। जैसे कोई आदमी छाया को पकडने के लिए छाया की ओर दौडे तो छाया आगे की ओर भागेगी लेकिन यदि वह छाया को पकडने की इच्छा न करे छाया की ओर पीठ कर दे तो वह छाया उस आदमी के पीछे दौडेगी। इसी प्रकार वस्तु की चाह करके उसके प्रति उपेक्षा–बुद्धि रखे तो वस्तु दौड कर पास आवेगी ओर यदि वस्तु की चाह करके उसके पीछे दौडे तो वस्तु दूर भागेगी। इसलिए मर्यादा होने पर भी अप्राप्त वस्तु की कामना न करना किन्तु निष्काम ओर मर्यादा पर स्थिर रहना। मर्यादा पर स्थिर रहने से सम्पत्ति स्वय ही दौड कर आवेगी। तुलसी-दास ने [illegible] कहा है–

> जिमि सरिता सागर मे जाही यद्यपि तिन्हे कामना नाही।
> तिमि धनसम्पति बिनहि बुलाये धर्मशील पै जाहि सुभाये।।

[illegible]

अर्थात्–जिस प्रकार समुद्र को जल की कामना न होने पर भी सब नदियॉ समुद्र मे ही जाती हे, उसी प्रकार धन–सम्पत्ति भी धर्म–शील व्यक्ति के पास बिना बुलाये ही स्वभावत जाती हे।

तात्पर्य यह है कि मर्यादा मे रही हुई परन्तु अप्राप्त वस्तु की कामना न करना, न उसके लिए धर्म की सीमा का उल्लघन ही करना चाहिए।

यह व्रत स्वीकार करनेवाला उन कार्यो को कभी नहीं करता, जिनका शास्त्र मे निषेध किया गया है। शास्त्र मे श्रावक के लिए वर्ज्य पन्द्रह कर्मादानो मे जो कार्य बतलाये गये हैं, इच्छा परिमाण, व्रत स्वीकार करनेवाले उन कामो को नहीं करते। जिसने इच्छा की सीमा नही की हे, वह कृत्याकृत्य का विचार नही रखता। उसका उद्देश्य तो केवल यह रहता हे कि मेरी इच्छानुसार पदार्थ मिले, फिर इसके लिए कुछ भी क्यो न करना पडे ? लेकिन जिसने इस व्रत को स्वीकार किया है, यह कृत्याकृत्य का ध्यान रखता हे ओर अकृत्य कार्य कदापि नही करता।

मतलब यह कि यह व्रत स्वीकार करनेवाला अनेक अशा म सुखी तथा पाप से बचा रहता हे ओर उसके द्वारा धर्म–कार्य एव शुभ–कार्य भी होते हैं। अशुभ कार्यो से प्राय वह अलग हो जाता हे।

अपरिग्रह व्रत या इच्छा–परिमाण–व्रत का पालन वही कर सकता हे, जो समस्त पदार्थो को तात्विक दृष्टि से देखता हे, जिसने सादगी स्वीकार की हे ओर लालसा को मिटा दिया हे या कम कर दिया हे। इच्छा–परिमाण–व्रत का पालन करने के लिए सादगी का होना आवश्यक हे। जिसम सादगी होगी वही इच्छा–परिमाण–व्रत का पालन कर सकता हे। सादगी न होन पर वस्तु की चाह हागी ही ओर इस कारण कभी न कभी व्रत भी भग हा जावगा। सादगी अनशनादि तप से भी कठिन हे। वहुत स लाग अनशन तप ता कर डालते हें, लेकिन उनक लिए सादगी स्वीकार करना कठिन जान पडता हे। परन्तु जब तक सादगी नही हे तब तक न ता अपरिग्रह व्रत का ही पालन हा सकता हे न परिग्रह–परिमाण व्रत का ही। इस व्रत का पालन तभी हा सकता हे जब अपनी आवश्यकताआ का बिल्कुल घटा दिया जाव।

सादगी की ही तरह सरलता का हाना भी आवश्यक ह। जिसम सरलता नही ह वह भी व्रत का पालन नहीं कर सकता। एसा व्यक्ति अपनी बुद्धि का उपयाग व्रत म गलती निकालन म ही करता हे। वह आदमी व्रत म भी कपट चलाता हे।

व्रत स्वीकार करके फिर उसमे कपट चलाने या गलती निकालने से व्रत का महत्त्व नष्ट हो जाता है। बहुत से लोग व्रत लेते समय यह सोचते है कि हम जितनी मर्यादा कर रहे है, हमको उतना ही मिलना कठिन है तो अधिक तो मिल ही कैसे सकता है? इस तरह सोच करके पहले ही – जो पास है उससे–बहुत अधिक की मर्यादा करते हैं, परन्तु योगायोग से जब मर्यादा जितना धन हो जाता है और उससे भी बढने लगता है, तब व्रत मे कपट चलाने लगते हे। ऐसे लोग उस समय अपनी बढी हुई सम्पत्ति को सन्तान या स्त्री के नाम पर कर देते है, उनके विवाहादि के खर्च खाते मे अमानत कर लेते है और फिर भी यह समझते है कि हमारे व्रत मे कोई दूषण नही लगा है। लेकिन वस्तुत ऐसा करना व्रत मे कपट चलाना और व्रत को भग करना है। क्योकि व्रत लेते समय इस प्रकार की मर्यादा नही की थी।

सच्चा व्रतधारी अपने व्रत से बाहर की कोई भी वस्तु अपने पास न रखेगा, फिर चाहे वह कैसी भी हो और किसी भी तरह से क्यो न मिलती हो? अरणक श्रावक को एक देव ने मिट्टी के गोले मे बन्द करके दो जोडी कुण्डल दिये थे। यदि अरणक चाहता तो कह सकता था कि ये कुण्डल तो देव–प्रदत्त है ओर ऐसा कह कर वह कुण्डलो को रख सकता था लेकिन अरणक व्रत स्वीकार करने के उद्देश्य को और व्रत स्वीकार करते समय रखे गये अपने अधिकार की मर्यादा को अच्छी तरह जानता था तथा उस पर दृढ था। उसका उल्लघन नही करना चाहता था। इसलिए उसने उन कुण्डलो को अपने पास नही रखा, किन्तु दूसरो को दे दिया। क्योकि उसने व्रत मे देव–प्रदत्त वस्तु लेने की मर्यादा नही रखी थी। इसी प्रकार जब स्त्री और बच्चो की सम्पत्ति अलग करने की मर्यादा नही रखी है तब सम्पत्ति के बढने पर बढी हुई सम्पत्ति उनके नाम करके अपना व्रत सुरक्षित समझना अथवा बढी हुई सम्पत्ति का न त्यागन के लिए और कोई उपाय निकालना यह व्रत मे कपट चलाना तथा धर्म का भी दूषित करना एव आत्म–प्रवचना करना हे।

आनद श्रावक ने भगवान के पास व्रत स्वीकार करते हुए यह मर्यादा की थी कि मै बारह करोड सोनया चालीस हजार गाय और पाच सौ हल [illegible] [illegible] से अधिक न रखूगा। यह मर्यादा करके वह [illegible]

[illegible]

हजार गाये थी। इन तीनो द्वारा एक ही वर्ष मे सम्पत्ति की अत्यधिक वृद्धि हो सकती थी और हुई भी होगी, फिर भी यह उल्लेख कहीं नही मिलता कि उसने वह बढी हुई सम्पत्ति स्त्री–पुत्र की बताकर अपने पास ही रख ली, अथवा स्त्री–पुत्र को दे दी, अथवा अपनी सम्पत्ति का कोई भाग देकर स्त्री–पुत्र को अलग कर दिया। यदि वह ऐसा करता, तो अवश्य ही उसका व्रत भग हो जाता। क्योकि उसने अपने व्रत मे इस प्रकार की मर्यादा नही रखी थी।

अब यह प्रश्न होता हे कि फिर वह अपनी बढी हुई सम्पत्ति का क्या करता था? चालीस हजार गायो के बच्चे भी बहुत होगे, पाच सो हल से अन्नादि भी बहुत होगा, और चार करोड सोनैया के व्यापार से भी बहुत लाभ होता होगा। आनन्द श्रावक व्यय से बचे हुए उस धन का क्या उपयोग करता था, जिससे उसका व्रत भग नही हुआ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आनन्द अपनी बढी हुई सम्पत्ति का क्या उपयोग करता था इसका शास्त्र मे कोई स्पष्ट वर्णन तो नही है, लेकिन शास्त्र मे यह वर्णन तो है ही कि आनन्द श्रावक श्रमण माहण को प्रतिलाभित करता हुआ विचरता था। श्रमण का अर्थ साधु है और माहण का अर्थ ब्राह्मण या श्रावक है। आनन्द, श्रमण और माहण को उनके योग्य दान देता था। इसके सिवा शास्त्र मे तुँगिया नगरी आदि स्थानो के श्रावको का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि उन श्रावको के द्वार दान देने के लिए सदा ही खुले रहते थे। उनके यहॉ से कोई निराश नही जाता था। इस वर्णन के आधार पर यह भी कहा जा सकता हे कि आनन्द श्रावक दानी था। इस कारण उसकी सम्पत्ति मर्यादा से अधिक नही होने पाती थी। इसके साथ यह भी कहा जा सकता हे कि आनन्द श्रावक जो कृषि–वाणिज्य आदि करता था उसके द्वारा या तो वह पहले ही कम लाभ लेता था अथवा लाभ का अधिकाश अपने कार्यकर्त्ताओ का दे देता था। आज यदि कोई आदमी ऐसी दुकान खोले जिसमे केवल वस्तु की लागत ओर दुकान आदि का खर्च लेकर ही वस्तु का क्रय–विक्रय किया जाता हो मुनाफा न लिया जाता हा अथवा बहुत कम मुनाफा लिया जाता हो तो जनता एस दुकानदार का बहुत आदर की दृष्टि से देखेगी उस प्रामाणिक मानगी ओर उसकी तथा उसक धर्म की भी प्रशसा करेगी। हो सकता हे आनन्द भी एसा वाणिज्य करता हा। जो कुछ भी हा यह स्पष्ट हे कि आनन्द क यहां कृषि गापालन ओर वाणिज्य हाता था फिर भी उसने अपनी सम्पति मर्यादा स अधिक नहीं हान दी थी।

तात्पर्य यह है कि व्रत लेने के पश्चात् व्रत मे कपट चलाना और किसी प्रकार का मार्ग निकालना अनुचित है। जिस भावुकता और सरलता से व्रत लिया है वह भावुकता और सरलता अन्त तक रखनी चाहिये। जो इस रीति से व्रत का पालन करता है उसी का व्रत निर्दोष, प्रशस्त एव प्रशसनीय है।

सम्पत्ति के लिए जीवन मत हारो। जीवन को सम्पत्ति के लिए मत समझो। सम्पत्ति पर जीवन न्यौछावर मत करो। सम्पत्ति के लिए धर्म को धता मत बताओ किन्तु यह विचार रखो कि हम धन को बडा न मानेगे, और दोनो मे से किसी एक के जाने का समय आने पर, धन चाहे जावे, लेकिन धर्म को कदापि न जाने देगे। धर्म–रहित सम्पत्ति नरक का कारण है। ऐसी सम्पत्ति दुर्गति मे ही ले जाती है। इसलिए धर्मरहित धन को अपने यहॉ कदापि न रहने दो।

जीव को ससार मे फॅसाने के लिए दारेषणा पुत्रेषणा और धनेषणा जाल रूप है। जो इस जाल से बचा रहता है, उसी का कल्याण होता है।

अतिचार

इच्छा—परिमाण—व्रत के पॉच अतिचार बताये हैं। य पॉचो अतिचार जानने योग्य हें, आचरण योग्य नही हे। व्रत की मर्यादा चार प्रकार से टूटती हे— अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार ओर अनाचार से। अतिक्रम व्यतिक्रम तथा अतिचार मे व्रत का आशिक भग होता हे ओर अनाचार म व्रत पूरी तरह टूट जाता हे। अतिचार व्रत का घोर दूषण हे, इसलिए खास तोर से इससे बचना चाहिए। ऐसा करने पर ही व्रत दूषण—रहित रह सकता हे।

इच्छा—परिमाण—व्रत के पॉच अतिचार ये हें—क्षेत्र—वस्तु प्रमाणातिक्रम हिरण्य—सुवर्ण प्रमाणातिक्रम, धनधान्य प्रमाणातिक्रम, द्विपद—चतुष्पद प्रमाणातिक्रम ओर कुप्य प्रमाणातिक्रम।

खेतादि भूमि ओर गृहादि के विषय मे की गई मर्यादा का आशिक उल्लघन करना क्षेत्रवस्तु प्रमाणातिक्रम अतिचार हे। यदि मर्यादा को पूर्णतया विचारपूर्वक तोड दिया जावे तब तो वह अनाचार ही हे। उससे व्रत बिल्कुल ही टूट जाता हे लेकिन व्रत की अपेक्षा रखते हुए भी भूल या असावधानी से ऐसा कार्य हो जावे जो व्रत की मर्यादा मे नही हे ओर जिसके करने से व्रत कुछ अश म भग हो जाता हे तो यह अतिचार हे।

क्षेत्र वस्तु प्रमाणातिक्रम अतिचार का अर्थ खेतादि खुली भूमि ओर गृहादि आच्छादित भूमि के विषय म की गई मर्यादा का पूर्णत नही किन्तु आशिक उल्लघन करना ह। जेसे किसी व्यक्ति ने चार से अधिक खेत न रखने की मर्यादा की। मर्यादाकाल म उसे और खेत मिले। व्रत न टूटे इस विचार से उसने बाद म मिले हुए खेतो को पहले के चार खेतो म ही मिला लिया। बीच की मेड (पाल) तोड दी और फिर मिले हुए खेतो को पहले के खेतो म मिला कर सख्या नही बढने दी तो यह अतिचार है। क्योकि मर्यादा करने के समय उसने और खेतो को मिला कर प्रस्तुत खेतो की वृद्धि का आगार नही

रखा था। इसी पकार गृह के विषय मे भी विचार रखना। मर्यादा मे जिस घर को रखा है उस घर को लबाई–चौडाई अथवा मूल्य मे बढाना भी अतिचार है।

हिरण्य सुवर्ण पमाणातिक्रम अतिचार का अर्थ, चॉदी–सोना या चॉदी–सोने की चीजो के विषय मे की गई मर्यादा का आशिक उल्लघन करना है। कोई व्रत की उपेक्षा तो नही करता, व्रत की तो रक्षा ही करना चाहता है फिर भी असावधानी से या समझ की कमी के कारण ऐसे कार्य करता है जिससे व्रत का आशिक उल्लघन होता है और व्रत मे दूषण लगता है तो यह हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम अतिचार है। जैसे मर्यादा करने के पश्चात् सोना–चॉदी या सोना चॉदी की कोई वस्तु मिली, उस समय यह सोचे कि मुझे यह रखना नही कल्पता इसलिए दूसरे के पास रख दूॅ, और ऐसा सोच कर मर्यादा से बाहर की वस्तु दूसरे के पास रख दे, यह हिरण्य सुवर्ण पमाणातिक्रम अतिचार है।

तीसरा अतिचार धनधान्यादि पमाणातिक्रम है। धन और धान्य के अन्तर्गत बताई गई वस्तुओ के विषय मे की गई मर्यादा का आशिक उल्लघन धनाधान्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है। जैसे किसी ने अनाज घी, गुड या रुपये–पेसे के विषय मे कोई मर्यादा की। मर्यादाकाल मे उसे मर्यादा के बाहर की कोई वस्तु मिली। उस समय यह सोचे कि यदि मैं इस वस्तु को अभी अपने अधिकार मे रखूगा तो मेरा व्रत भग हो जावेगा इसलिए मर्यादाकाल के वास्ते यह वस्तु दूसरे के पास रख दूॅ। अथवा मेरे पास जो वस्तुऍ हे उनके समाप्त होने या कम होने तक यह वस्तु दूसरे के पास रख दू। फिर जब मर्यादाकाल समाप्त हो जावेगा या मर्यादा मे रक्खी हुई वस्तु मे न्यूनता आवेगी तब इस वस्तु को लेकर अपने अधिकार मे कर लूॅगा। इस प्रकार व्रत की अपेक्षा रखते हुए भी ऐसे कार्य करना जिनसे व्रत मे दूषण लगता हे धनधान्य पमाणातिक्रम अतिचार है।

पर या मर्यादा मे रखी हुई वस्तुओ मे न्यूनता आने पर वापस लेने के विचार से दूसरे के पास रखे, तो यह कुप्य–प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

अतिचारो की व्याख्या यह भी होती हे कि ज्ञात न होने पर स्वय के अधिकार मे मर्यादा से अधिक पदार्थो का हो जाना। पदार्थ तो मर्यादा से अधिक हो गये हैं, लेकिन स्वय को यह पता नही है कि मेरे अधिकार मे मर्यादा से अधिक पदार्थ हैं, किन्तु स्वय यह समझता है कि जो पदार्थ मेरे अधिकार मे हैं वे मर्यादा मे ही हैं तो यह अतिचार है यानी अनजान मे मर्यादा से अधिक पदार्थो का अपने अधिकार मे होना यह अतिचार है। जब तक इस बात का पता नही है कि मेरे अधिकार मे मर्यादा से अधिक पदार्थ हैं तब तक तो उन पदार्थो का अधिकार मे होना अतिचार ही है लेकिन पता होने पर भी मर्यादा से अधिक पदार्थो का अपने अधिकार मे ही रखना अनाचार हे ओर अनाचार होने पर व्रत भग हो जाता है।

सक्षेप मे यह पाचो अतिचारो का स्वरूप हुआ। जो व्यक्ति इनसे बचकर व्रत का पालन करता है। उसी का व्रत दूषणरहित है वही व्रत लेने का उद्देश्य पूरा करता है और वही आराधक तथा आत्मकल्याण करने वाला है।

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर

– एक परिचय –

स्थानकवासी जैन परम्परा मे आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा एक महान् कातिकारी सत हुए है। आषाढ शुक्ला अष्टमी सवत् 2000 को भीनासर मे सेठ हमीरमलजी बाठिया स्थानकवासी जैन पौषधशाला मे उन्होने सथारापूर्वक अपनी देह का त्याग किया। उनकी महाप्रयाण यात्रा के बाद चतुर्विध सघ की एक श्रद्धाजलि सभा आयोजित की गई जिसमे उनके अनन्य भक्त भीनासर के सेठ श्री चम्पालाल जी बाठिया ने उनकी स्मृति मे भीनासर मे ज्ञान–दर्शन चारित्र की आराधना हेतु एक जीवन्त स्मारक बनाने की अपील की। तदन्तर दिनाक 29 4 1944 को श्री जवाहर विद्यापीठ के रूप मे इस स्मारक ने मूर्त रूप लिया।

शिक्षा–ज्ञान एव सेवा की त्रिवेणी प्रवाहित करते हुए सस्था ने अपने छह दशक पूर्ण कर लिए है। आचार्य श्री जवाहरलालजी म सा के व्याख्यानो से सकलित सम्पादित ग्रथो को श्री जवाहर किरणावली के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। वर्तमान मे इसकी 32 किरणा का प्रकाशन सस्था द्वारा किया जा रहा है इसमे गुफित आचार्यश्री की वाणी को जन–जन तक पहुचाने का यह कीर्तिमानीय कार्य ह। आज गौरवान्वित है गगाशहर–भीनासर की पुण्यभूमि जिसे दादा गुरु का धाम बनने का सुअवसर मिला और ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा की कालजयी वाणी जन–जन तक पहुच सकी।

महिलाओ को स्वावलम्बी बनाने हेतु सस्था द्वारा सिलाई, बुनाई, कढाई प्रशिक्षण केन्द्र का सचालन किया जाता है, जिसमे योग्य अध्यापिकाओ द्वारा महिलाओ व छात्राओ को सिलाई, बुनाई, कढाई व पेन्टिग कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है। इससे वे अपने गृहस्थी के कार्यो मे योगदान दे सकती है और आवश्यकता पडने पर इस कार्य के सहारे जीवन मे स्वावलम्बी भी बन सकती हैं।

सस्था के सस्थापक स्वर्गीय सेठ श्री चम्पालाल जी बाठिया की जन्म जयन्ती पर प्रत्येक वर्ष उनकी स्मृति मे एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है जिसमे उच्च कोटि के विद्वानो को बुलाकर प्रत्येक वर्ष अलग–अलग धार्मिक, सामाजिक विषयो पर प्रवचन आयोजित किए जाते है।

उपरोक्त के अलावा प्रदीप कुमार जी रामपुरिया स्मृति पुरस्कार के अन्तर्गत भी प्रतिवर्ष स्नातकस्तरीय कला, विज्ञान एव वाणिज्य सकाय मे बीकानेर विश्वविद्यालय मे प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियो को नकद राशि, प्रशस्ति–पत्र एव प्रतीक–चिन्ह देकर सम्मानित किया जाता है एव स्नातकोत्तर शिक्षा मे बीकानेर विश्वविद्यालय मे सर्वाधिक अक प्राप्त करने वाले एक विद्यार्थी को विशेष योग्यता पुरस्कार के रूप मे प्रशस्ति–पत्र एव प्रतीक–चिन्ह देकर सम्मानित किया जाता हे।

विद्यापीठ द्वारा ठण्डे मीठे जल की प्याऊ का सचालन किया जाता हे। जनसाधारण के लिए इराकी उपयोगिता स्वय–सिद्ध हे। इस प्रकार अपने बहुआयामी कार्यो रो श्री जवाहर विद्यापीठ निरन्तर प्रगति–पथ पर अग्रसर हे।

कभी—कभी तो मृत्यु तक का भी आलिगन करना पडता हे। परदार—गामी का मन सदैव कलुषित वना ही रहता है, जिससे नीति ओर धर्म से निषिद्ध कार्य भी सदा करता ही रहता हे। इस प्रकार, उसका इहलोकिक जीवन भी दु खमय बन जाता है ओर परलोक मे भी उसे नरक की घोर से घोर वेदना सहनी पडती हे।

पर—स्त्री—सेवन की बुराइयॉ बताते हुए, गाधी जी लिखते हैं कि 'जहॉ परस्त्री—गमन न हो, वहॉ पर पचास प्रतिशत डाक्टर बेकार हो जावेगे। पर—स्त्री गमन से होने वाले रोगो की दवाइया भी ऐसी जहरीली होती हैं, कि यदि उन दवाइयो से एक रोग का नाश मालूम होने लगता है तो दूसरे रोग घर कर लेते हैं ओर पीढी दर पीढी चल निकलते हैं।"

गाधीजी के कथन का अभिप्राय यह हे, कि पर—स्त्री—सेवन से रोग और अशक्तता का ऐसा आधिक्य हो जाता है कि जिसका फल भावी सन्तति को भी भोगना पडता है। वे आगे कहते हें कि "मनुष्य के सामाजिक जीवन का केन्द्र एक—पत्नीव्रत ही है।" इसलिए स्वदार—सन्तोष—व्रत स्वीकार करके, पर—स्त्री का त्याग करना ही लाभप्रद है। अन्य ग्रन्थकार भी कहते हैं —

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दित ।
दुखभागी च सतत व्याधितोल्पायुरेव च।।
नहीदृशमनायुष्य लोके किञ्चन दृश्यते।
यादृश पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्।।

मनुस्मृति।

दुराचारी पुरुष लोक मे निन्दित होता है, सदा दु खी रोगग्रस्त ओर अल्पायुषी होता है। इस ससार मे पुरुष का आयुर्बल क्षीण करने वाला ऐसा कोई भी कार्य नही हे जेसा कि पराई स्त्री के साथ रमण करना है।'

परदार—गमन से केवल आयुर्बल ही क्षीण नही होता किन्तु बल, साहस, धन—वेभव आदि भी नष्ट हो जाते हे। केसा भी बलवान हो केसा भी वेभवशाली हो ओर केसा भी साहसी हो लेकिन यदि उसमे पर—स्त्री चाहने का रोग हे तो उसका समस्त वल वेभव ओर साहस, गर्म तवे पर गिरी हुई जल की वूद के समान नष्ट हो जाता हे। पराई स्त्री की इच्छा करने वाला अपनी ही हानि नही करता किन्तु अपने कुल परिवार ओर मित्रो की भी हानि करता हे। राजा रावण मे वल की कमी नही थी वेभव भी खूब था ओर साहस भी पर्याप्त था लकिन वह सदाचारी स्वदार—सन्तोपी न था इसलिए उसका वल वभव तथा साहस किसी काम न आया ओर परिवार—सहित नष्ट हो

आवश्यकता उत्पन्न हो जाती हे। इस प्रकार लालसा का कही अन्त नही। चादी के बन गये तो सोने के आभूषणों की कमी रहती हे। यदि भाग्यवश सोने के भी बन गये तो हीरा—माणिक के आभूषणो की इच्छा बलवती हो उठती है। इस प्रकार तृष्णा आकाश के समान असीम हे। उस तृष्णा को सीमित कर लेना ही परिग्रह परिमाणव्रत हे।

परिग्रह की व्युत्पत्ति करते हुए शास्त्रकारो ने कहा हे—'परिग्रहण—परिग्रह। अर्थात् जिसे ग्रहण किया जाय वह परिग्रह' है। ग्रहण उसे ही किया जाता हे जिससे ममत्व है। जिससे किसी प्रकार का ममत्व नहीं है उस वस्तु को ग्रहण नही किया जाता, न पास ही रखा जाता है। इस प्रकार जिसका ममत्व भाव से ग्रहण किया जाता हे वही 'परिग्रह' हे।

परिग्रह का अर्थ ममत्व भाव हे, इसलिए जिनसे ममत्व—भाव हे वे समस्त वस्तुएँ परिग्रह मे हें। जिसके प्रति ममत्व—भाव होने से जन्म—मरण की वृद्धि होती है, जो आत्मा को उन्नत होने से रोकता हे ओर जो मोक्ष मे बाधक है वही पदार्थ परिग्रह हे। फिर चाहे वह पदार्थ जड हो चेतन हो, रूपी हो, अरूपी हो ओर समस्त लोक जितना बडा हो अथवा परमाणु जेसा छोटा हो। जो क्रोध, मान माया, लोभ का उत्पादक हे वही प्ररिग्रह हे। शास्त्रकारो का कथन हे कि ज्ञान ससारबन्धन से मुक्त करने वाला हे लेकिन यदि उसके कारण किंचित् भी अभिमान उत्पन्न हुआ है तो वह ज्ञान भी परिग्रह हे। धर्म पालन के लिए शरीर का होना आवश्यक है परन्तु यदि शरीर पर थोडा भी ममत्व हे तो शरीर परिग्रह हे। इस प्रकार जिसके प्रति ममत्व—भाव हे जिससे काम क्रोध लोभ या मोह का जन्म होता हे वह परिग्रह हे। परिग्रह आत्मा के लिए वह बन्धन हे जिससे आत्मा पुन—पुन जन्म—मरण करता हे। परिग्रह आत्मा के लिए वह बोझ हे जो आत्मा को उन्नत नही होने देता ओर मोक्ष की ओर नही जाने देता ससार के चक्रव्यूह मे ही फसाये रखता हे।

परिग्रह के भेद

शास्त्रकारो ने परिग्रह के बाह्य ओर आभ्यन्तर ऐसे दो भेद किये हे। उन्होने आभ्यन्तर परिग्रह मे मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय आदि को माना हे। जिनकी उत्पत्ति मुख्यत मन से हे ओर जिनका निवासस्थान भी मन ही हे अर्थात जो मन अथवा हृदय से ही सम्बन्ध रखते हें ओर विचार रूप हे उन सब की गणना आभ्यन्तर परिग्रह मे हे। बाह्य परिग्रह के भी दो भेद किये गये हें— जड ओर चेतन। जड मे वे समस्त पदार्थ आ जाते हे। जिनमे जान नही हे जो निर्जीव हे। जेसे—वस्त्र पात्र चादी सोना सिक्का मकान